आपकी कहानी 'यहाँ भी हँसो' लेने ही वाला था कि दूसरी कहानी 'बाड़े का कुत्ता' मिल गयी और मैंने उसे बहुत ध्यान से पढ़ा। निश्चय ही यह कहानी पहली कहानी से ज्यादा बेहतर है और दूर तक मार करती है।

आपका लेखन, लिखने का आत्मविश्वास दोनों ही सराहनीय है। विश्वास है इन *संभावनाओं को आप पथभ्रष्ट नहीं होने देंगे।*

— राजेन्द्र यादव

(पत्र दिनांक 15-12-86)

आपकी 'त्रिपाशा' वाली कहानी (आइट), इतनी सहज-सलोनी और सात्त्विक प्रेम-कथा लिखने के लिए आपको बधाई। कल मैं, नरेन्द्र और संजय बराकर नदी के *सुहाने तट पर बैठकर उस कहानी की चर्चा* कर रहे थे। अक भाई लोगों ने मार लिया था मुझसे।

—संजीव

(पत्र दिनांक : 15-7-86)

तुम्हारी कहानियाँ किताब आते ही पढ़ गया था। तरुणों में शायद तुम पहले हो, जिसे मैं चाह सकने लायक पा सका।

—बलराम

(पत्र दिनांक : 1-1-87)

आपकी कहानी 'बाड़े का कुत्ता' ने मुझे अपने बचपन में पाले गये कुत्तों की याद दिला दी। आपको शायद यकीन न आए, बचपन में दुर्घटना में मरे अपने कुत्ते को दोपहर तक गड्ढा खोदकर मैंने गाड़ा था और पिता से मार खायी थी। उस कुत्ते की याद इस कहानी को पढ़ते हुए मेरी आँखें गीली कर गयी। बहुत ही सहज ढंग से कही गयी प्रभावशाली कहानी के लिए मेरी बधाई स्वीकारें। कहानी लिखने में तो आप सिद्धहस्त हैं ही। आजकल क्या कुछ लिख रहे हैं? अगली कहानी पढ़ने के लिए कौन-सी पत्रिका तलाशी जाय?

—शिवमूर्ति

(पत्र दिनांक : 15-2-77)

सुकांत के सपनों में

मालचंद तिवाड़ी

अपनी चंदा के लिए

क्रम

यहाँ भी हँसो

उस दिन धूप तेज थी न, तुम्हें याद होगा !

जब हम डॉक्टर के कमरे पर पहुँचे, पता चला कि वह वार्डों के दौरे पर गया है। हम कुछ देर रुके। फिर डॉक्टर को खोजने निकले। वार्ड अस्पताल के उस हिस्से में थे, जहाँ का फालतू चक्कर लगाकर हम वहीं लौट आये। डॉक्टर नजर नहीं आया। अलबत्ता धूप और चलने से तुम खामख्वाह पस्त हो गईं। तुम्हारी हाँफनी उभर आई। पपोटे भारी और चेहरा लाल हो गया। तब भी तुम रोयी नहीं, क्या इसलिए कि तुम बहुत खुश थी ?

तुम्हारी यह खुशी कितनी सायास थी; सहज-स्फूर्त नहीं, कहीं तुम यह साबित तो नहीं कर रही थी कि चाहने पर आदमी हर हाल में खुश दीख सकता है रास्ते भर यही किया था तुमने। सिर्फ बोल नहीं, चहक रही थी तुम, मुझे याद है तुम्हारी वे दूर-दराज बिखरती बातें, प्रायः बेतुकी जो तुमने रास्ते में मुझसे कीं। बीच-बीच में मैं इन हर मामूली टिप्पणियाँ करता रहा, जिन पर बेमतलब ही चौंक कर तुम मुझे घूरती या मुँह दबाकर हँस पड़ती, मुझे लगता कि तुम खुशी की जिद पर अड़ी हो।

यह भला कैसी जिद ? कितना सलौना होगा इसका चेहरा कि जो देखे वही अड़ बैठता है। जीवन की तमाम हील-हुज्जत और चिल्ल-पों के बीच कुछ सुरीला, मद्धम और लयबद्ध-सा संजो लेने की जिद जो बता दे कि सिर्फ भागा ही नहीं, थोड़ा जीया भी जाता है। इस जीये हुए का सब कुछ फीका और बेरंग-बेनूर ही नहीं होता। कितने अदेखे, अनकहे और अनछुए

पल बीत जाते हैं —हमारी पुतली आँख के आगे। इसे सोच कर तो देखे कोई।

देखो, यहाँ मत हँसना। बात दूसरी है। हाँ, डॉक्टर नहीं आया। तुमने खड़े-खड़े थक कर दीवार की टेक ली, तो मैं समझ गया कि तुम मन काम्य हो पर देह नहीं चलेगी। रोगी थी तुम्हारी देह। इसी रोगी देह में मैंने उस दिन कामना की गूँज सुनी। तुमने आसमानी ब्लाउज के नीचे सलेटी रंग की मिडी पहन रखी थी। मिडी के घेरे पर आसमानी बॉर्डर था जिसने तुम्हारी पोशाक को उतना ही सप्राण कर रखा था, जितना मुसकान तुम्हारे चेहरे को करती है। लम्बे केश एक तरफ निकालकर तुम ने वेणी गूँथी थी, जिसके लटकते छोर पर रिबन का सफेद फूल था। कुल मिलाकर तुम्हारा समूचा अस्तित्व इस साक्षात् संदेश जैसा था कि कामना ही सर्वस्व है जो आदमी को जीने के अहसास से अछूते, कोढ़ से अलहदा रखती है।

तुम्हें मालूम है? शायद हो कि कामनाओं का होना कुछ नहीं होता। आदमी को उनकी भरपूर देखभाल करनी पड़ती है। उन्हें वैसे ही लाड़-दुलार और डाँट-फटकार की दरकार होती है, जैसे आदमी की औलाद को, आदमी की कामनाओं के बदचलन-आवारा होने का खतरा उसकी औलाद से कहीं बढ़कर होता है।

"आओ, चलकर बैठ जाएँ..." मैं तुम्हे रोगी-प्रतीक्षालय मे ले आया।

लाल पत्थर की चौड़ी सीढ़ियाँ पारकर हम भीतर आए। भीतर अस्पताल की जानी-पहचानी बदबू तैर रही थी जो गंदी दीवारों के बीच ज्यादा ही तेज लगी। छत इतनी ऊँची थी कि ऊपर देखने पर मजा आया। इसके कोनों में जाले और बीच मे धूल-स्नात पंखा बंद हालत मे लटक रहा था। यों ही, इस पंखे की तुलना मैंने मरे हुए मुनगे के साथ की, तो तुम हँसी नहीं दबा सकीं। अहाते के दोनों बाजू में लम्बी बेंचें थीं। हमारे बीच से होकर लोग आ-जा रहे थे।

हमें बेंच पर बैठे थोड़ी देर हुई कि वह आ पहुँची। हाँ, उसी की बात है—वह पीली चुनरीवाली! याद आया उसका बड़े-बड़े नीले बूँटोवाला

छींट का घाघरा ? एक बार देखते ही तुम्हारी आँखें जुड़ा गई थी।

साथ में एक मजबूत कद-काठी की बूढ़ी औरत थी। काले घाघरे पर करवई लूगड़े का पहनावा उसके वैधव्य का सूचक था, जिसकी न जाने कहाँ से वह अभ्यस्त-सी लग रही थी। पीली चुनरीवाली इस बुढ़िया की गोद में कुछ देर लुढ़की पड़ी रही, फिर आँखें मूँदकर सो गई। कहीं से एक आदमी उनके पास आया। तीस-पैंतीस की अवस्था का और शक्ल से उजड्ड, जिसने फिजूल उतावल में लड़की की नाड़ी टटोली और चला गया। जाते हुए मुझे इसकी बत्तीसी की झलक मिली। दाँत इतने पीले थे जैसे मुँह में हल्दी घुली हो।

तुमने यों ही पूछा था कि यह इस पीली चुनरीवाली का क्या हो सकता है ? फिर तुम बोली कि ठीक होने पर यह पीली चुनरीवाली बड़ी सुंदर लगेगी। मैंने बुढ़िया की गोद में पड़ा उसका मुँह गौर से देखा। वह प्राय अचेत थी। उसके मुँह से लार बहकर सूख चुकी थी। मक्खियाँ मँडरा रही थी और उघड़े सिर के रूखे-बदरंग बाल बिखरे पड़े थे।

"पानी..." सहसा लड़की ने कराह भरी।

'पानी ?" बुढ़िया ने बदहवासी में इधर-उधर देखा और पुकारा, "रामरिखिया ओ रामरिखिया रे !"

"ए डोकरी ! क्यों शोर मचा रही है ? यह खेत नहीं है, समझी ?" बुढ़िया के दो तीन बार पुकार चुकने पर एक कम्पाउण्डर निकला और उसे धमकाकर गायब हो गया।

"तुम जाओ, उठो !" तुमसे रहा नहीं गया। तो मुझे कोंचकर बोली, "बुढ़िया को पूछो, क्या चाहती है।"

तुम्हें नहीं मालूम कि मैं सिर्फ तुम्हारे कहने की राह देख रहा था। तब भी मैंने तुमसे पूछा, "मेरे पीछे तुम अकेली...।"

"जाओ न, मैं अकेली कहाँ हूँ? लोग जो है। जाओ!" तुमने यों तुनक कर कहा, जैसे सारा कसूर मेरा हो।

मैं बुढ़िया के पास गया। थोड़ी पूछताछ की और बर्तन लेकर पानी ला दिया।

"पीली चुनरीवाली को क्या हुआ है?" पानी देकर लौटा, तो तुमने
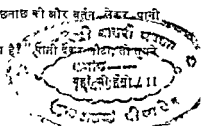
बेसब्री से पूछा।

"सुनोगी ?"

"बताओ न !" तुम्हारी बेसब्री बढ़ने लगी।

"सुनो।" मैं धीमे-धीमे बताने लगा, "लड़की को छ माह का गर्भ था। कल इसके पति ने पेट पर लात मार दी। खून बहने लगा। रात तक हालत बिगड़ गई, तो ऊँट-गाड़े में डालकर गाँव से यहाँ लाए हैं। अब डॉक्टर की राह देखी जा रही है।"

"यह...यह आदमी कौन था ?" तुमने पीले दाँतोंवाले के बारे में सहमकर पूछा।

"लड़की का सगा मामा। बुढ़िया ने कहा कि इसे जरा भी मोह-ममता नहीं है, बस, लोक-लाज से चला आया है।"

"लड़की का बाप ?"

"बुढ़िया ने कहा कि कोई महीना भर पहले उसे खेत में साँप डसा था। गाँव में झाड़-फूंक से पार नहीं पड़ी, तो इसी अस्पताल में लाए थे। यहाँ पहुँचने तक साँस बाकी थी, पर डाक्टर ने छूते ही सिर हिला दिया था। आज लड़की का क्या होगा। बुढ़िया की यही चिन्ता है।"

बुढ़िया की गाथा में डूबकर मैं देख ही नहीं पाया कि तुम्हारी आँखें छलछला आई हैं। तुमने रुँधे गले से पूछा, "गाँव में कुछ भी इलाज नहीं ?"

"इसकी जरूरत क्या है ?" तुम्हारे ऐसे मासूम सवाल पर अनजाने ही मैं चिढ़ गया था, "इन डॉक्टरों की राय है कि गाँव की आबो-हवा में कोई बीमार हो ही नहीं सकता। ये, ये सबके सब ढोंगी हैं।" कहकर मैंने अपनी तर्जनी तमाम गँवई मरीजों पर लहरा दी थी।

तुमने गर्दन झुकाई। फिर रूमाल सटाकर तुमने अपने आँसू आँखों में ही रोक डाले।

"डॉक्टर सा'ब आ गये !"

"डॉक्टर सा'ब आ गये !"

समवेत स्वर उभरने लगा। भीड़ हड़बड़ाई और पलभर में डॉक्टर के कमरे पर लपककर छाते की शक्ल में जमा होने लगी। पीली चुनरी

वाली बेहोश थी। दुनिया झिलमिल कर रही थी जिस पर ध्यान देने की फुर्सत किसी को न थी। यहाँ तक कि हमें भी उठना पड़ा।

अस्पताल से लौटने तक तुम एकदम निढाल हो गईं। तुम्हारी आँखों में रुलाई फूटने का अंदेशा था। इधर-उधर की बातों में उलझाए मैं तुम्हें रेस्तराँ में लाया। केबिन में बिठाकर तुम्हें बहलाने के मैंने हजार यत्न किये।

"सुनो ऐ!" गाल पर हल्की-सी चपत लगाकर मैंने तुम्हें पुकारा।

"ऊँः । क्या कहते हो?" तुम गुस्सा छोड़ने को तैयार नहीं थी।

"कुछ याद करोगी?"

"क्या?"

"अस्पताल की सीढ़ियाँ और फर्श।" मैं बोला।

'क्यों मजाक करते हो वे क्या याद करने लायक हैं?' तुमने उकताकर कहा।

"हाँ है, तुमने देखा, लोग अस्पताल में आकर कैसे डरे-सहमे हो जाते हैं। उनके पैर उठने की बजाय घिसटने लगते हैं।' याद करो, सीढ़ियाँ और फर्श बीच से किस कदर घिसटकर रह गये हैं फिर कुछ थमकर मैंने जारी रखा, "सिर्फ एक ही आदमी को मैंने पैर उठाकर चलते देखा था। लेकिन वह भी सामने से गुजरा, तो उसकी पोल खुल गई। बेचारे के एक पैर में चप्पल ही नहीं थी। टूटी हुई चप्पल उसने हाथ में लेकर पीठ-पीछे छिपा रखी थी। मारे शर्म के वह भाग रहा था। उसकी झेंपी सूरत देखतीं, तो तुम हँस-हँसकर अपना बुरा हाल कर लेतीं। मैं तुम्हें दिखाता, अगर उस पीली चुनरीवाली ने फेर...।"

बात के अंत में मैंने आँखें नचाकर तुम्हें भेंगी आँखों से देखा। मैं समझ रहा था कि तुम्हें हँसाने का मेरा यह अंतिम और अचूक उपाय अब जरूरी है।

तुमने नजर उठाई। कंजूसी से होंठ खोलकर धीमे से हँसी। खुशी और शिकायत की तुम्हारी यह मासूम अदा है जिसे तुम खुद देख लो तो अपने पर तुम्हें उतना ही प्यार आएगा जितना मुझे। मैंने विभोर होकर अपना हाथ तुम्हारी तरफ बढ़ाया। तुमने अपना मुखड़ा मेरी हथेली पर टिका

दिया।

"चाय में मक्खी न पड़ जाए, भैया जी!"

काउण्टर पर से चिल्लाकर शायद किसी ऊँघते ग्राहक को सावधान किया गया। हमें भी होश आया। हमारी चाय भी अनछुई पड़ी थी। कुछ पहले बेयरा रख गया था।

"तुम बहुत बदमाश हो!" भावावेश में मुझे तुमने आज पहली बार 'तुम' कह डाला और बुरी तरह झेंप गईं।

"और तुम शरीफ? एक फल होता है—शरीफा। खाने में बड़ा मजेदार पर ऊपर से खुरदुरा।"

अबकी तुम खुलकर हँस दीं, ऐसे कि फर्श पर नयी बाजरी के दाने बिखर रहे हैं। मैं इतराया और मेज के पार तुम्हारे एकदम करीब चला आया। मैंने तुम्हारे कंधे पर हाथ रखा, तो तुम उसे थामकर लिपट-सी गईं। मुखड़ा तुमने मेरी बाँह से सटा दिया। मैंने देखा कि एक जोड़ी भ्रमर फिर घू रहे हैं।

"अन्ना!" मैंने तुम्हें यही नाम दिया। याद है चेखव की कहानी—कुत्ते वाली महिला! मैंने तुम्हें यह कभी पढ़कर सुनाई थी। तुम्हें इसकी नायिका का नाम मैंने क्यों दिया?

तुम सचमुच रो रही थीं। मैंने तुम्हारा भीगा मुखड़ा अपनी हथेलियों में दोनों से भरकर तुमसे पूछा, "हँस रही थीं या सिर्फ हँस-हँस कर आँसू बहा रही थीं?"

'वह पीली चुनरीवाली...शायद उसको [illegible]। वह बच जायेगी?" रोते-रोते तुम पूछने लगीं।

मैं क्या बताता?

"केबिन छोड़िये...ग्राहक इन्तजार कर रहे हैं।" काउण्टर से आवाज आई। हमें उठना पड़ा।

मैंने तुम्हें बताया नहीं; मैं काउण्टर पर पैसे चुकाने रुका, तो हमारी चाय लेकर केबिन में आनेवाला बैरा मेरी तरफ आँख मारकर मुस्कराया था। पता नहीं, मुझे किस [illegible] पर [illegible]। [illegible], यहाँ भी [illegible] [illegible] [illegible]

हाँ—बस, उन पर हँसी आती है।

जो हो, चीनी चुरईवाली के बारे में तो जान लो। मैं दुबारा अस्पताल गया था। मालूम हुआ, डॉक्टर सबसे अंत में वहाँ जब पहुँचा तब बुढ़िया ने चीख-चीखकर अस्पताल सिर पर उठा डाला।

सुनो, फिर क्या हुआ ?

डॉक्टर ने खिड़की की दर आँखें खोलकर भीतर झाँका, तो मौत डेरा डाले बैठी थी। स्टेथोस्कोप पहने ही चुप था। अब बेचारा डॉक्टर सिवाय अफसोस में सिर हिलाने के अलावा क्या करता ? उसने यही किया कि बुढ़िया ने बिल्ली की तरह झपटकर डॉक्टर का मुँह नोच लिया। लोग दौड़े और बुढ़िया को पकड़ा। मरन-जान बुढ़िया कहाँ काबू में आती ? इंजेक्शन देकर उसे बेहोश करना पड़ा।

डॉक्टर ने कहा, "बुढ़िया दौरे में पागल हो गई है।"

ज़रा तुम भी सोचना कि बुढ़िया पागल हो गई या ?

मुकात ने मेरी तरफ देखा, तो निश्चित हो गया कि मेरी बात उसके भीतर नहीं उतरी। वही हुआ, उसने अगला सवाल छोड़ा, "फौजी किसे मारते हैं, पापा ?"

"किसी को नहीं।" मैंने भरसक हँसकर कहा।

"तो वे बंदूक क्यों रखते हैं ?"

मेरे तो समूचे ज्ञान की कलई खुलने लगी। देश की सीमाएँ, युद्ध की संभावनाएँ, आन्तरिक उपद्रव, चीन या पाकिस्तान किसी से सुकांत का उत्तर नहीं था। मैं उसके लिए माकूल उत्तर ढूंढ रहा था कि उसने फिर पूछा, "बताओ न, पापा .फौजी बंदूक से क्या करते हैं ? सीमा तो कहती है, फौजी हरेक को मार सकते हैं। फौजी आपको भी मार सकते है, पापा ?"

सुनकर मेरे अंग-अंग में सिहरन दौड़ गयी। सुकांत को शांत करना पहले जरूरी था, इसलिए मैंने उसे सुलाने को कहा, "फौजी सिर्फ दूसरे फौजियों को मारते हैं। वे जब " मेरी जबान में ऐंठन हुई लेकिन मैंने वह टाला, "वे जब अपने देश पर हमला करते हैं, त तब.. !"

"देश, देश क्या होता है, पापा ?"

"देख बेटा, तू अभी छोटा है न ! सब बातें समझेगा नहीं, अभी सो-जा। कल हम खूब बातें करेंगे। अच्छा, एक बात बतायेगा, कल तू ने सीमा के घर क्या खाया ?"

"खीर।" सुकांत राजी होता बोला।

"अब सो-जा, कल हम भी खीर बनवाएँगे।" कहते-कहते मैंने रजाई लगभग जबरन उसे मुँह पर ओढ़ाई। वह इठलाता-सा, मचलता-सा रजाई में दुबक गया।

कोई दसेक मिनट बाद मुझे सुकांत की चीख सुनाई दी। मैं जाग रहा था, उसे छाती से लगाया और पूछा, "सुकांत, सुकांत बेटा, क्या हुआ ? बता बेटा...तू ने क्या देखा ?"

पसीने से भीगा शरीर, उखड़ी साँस और भय से विस्फारित आँखों से उसने मेरी तरफ देखा और बोला, "फौजी ने आपको गोली क्यों मार दी, पापा ?"

मैंने हँसते-हँसते उसे कहा, "सो-जा...सो-जा सुकांत...मैंने तुमसे कहा था न, कि कल अपने यहाँ भी मोर बनाएँगे।"

और परसों पूरी रात मुझे नींद नहीं आई, फिर भी सुकांत के सपने की कोई तफ़सील मेरे हाथ नहीं लगी। आप भी कुछ अनुमान करेंगे कि मेरे सुकांत ने सपने में क्या देखा ?

ख़ैर, इसे छोड़िये। और सुनिये सुकांत की बातें।

गये सोमवार को जब मैं दफ़्तर से घर पहुँचा, सुकांत मेरी बाट जोहता मिला। घर मे घुसते ही पूछा "पापा, शांति-पाठ क्या होता है ?"

"शाति-पाठ ?"

मैं भौचक रह गया कि इस कोमल बच्चे के दिमाग मे इतना विकट पाठ कैसे घुस पड़ा। कोई समाधान जरूरी था, सो मैंने समझाया, "हम सब हिल-मिलकर रहें, लड़ें-झगड़ें नहीं और कोई दुखी न हो, तो शाति-पाठ उसको कहते हैं।"

"अ-हूँ, आपको मालूम भी नहीं।" सुकांत ने दो-टूक कह डाला।

"तो फिर तुम बताओ।" मैं सुनकर मुसकुराया।

"मेरी स्कूल मे है न, बहनजी हैं न, हम सबको आँखें बंद करवाकर, हाथ जुड़वाकर लाइन मे खड़ा करती हैं और कहती हैं, चुपचाप खड़े-खड़े शांति-पाठ करो। इसे कहते है शांति-पाठ!"

मुझे जोर से हँसी आयी। हँसकर मैंने देखा कि सुकांत रोने लगा है। रोते-रोते उसने बताया, "पापा, लड़के रोज शांति-पाठ मे मेरे पीछे से चिकोटियाँ काटते हैं। कहते हैं—आँखें बंद, आखे बंद...नहीं तो बहनजी मारेंगे। शांति-पाठ मे आँखें बंद न हों तो बहनजी क्यों मारती हैं, पापा?"

आप यह बताइये कि मैं सुकांत को क्या बताता!

कोई शांति-पाठ पढ़ते हुए मार से आतंकित रहे, यह क्या बर्दाश्त करने जैसी बात है ?

और एक दिन यही सुकांत धूप में बैठा था। मेरी तरफ उसकी पीठ थी। मेरा ध्यान गया कि बहुत देर से वह अविचल और शांत बैठा है। यह अविश्वसनीय बात थी। मैं धीमे से चलकर उसके पीछे गया और देखने लगा कि वह कहाँ उलझा है!

उसके दाये हाथ मे एक बॉल-पेन थी जिसे वह हाफ-पैण्ट मे नीचे अपने नगे घुटने पर अंधाधुंध चलाता जा रहा था। कुछ देर देखकर मैंने उसे दुलारते हुए पूछा, "मुकान, क्या कर रहा है रे ?"

"घुचघुचिये।" बिना जरा सी भी गर्दन उठाये, पेन चलाते हुए मुकात बोला।

"और इस घुटने पर क्या किया ?" मैंने उसके दूसरे घुटने पर स्याही देखकर इशारा किया।

"घुचघुचिये।" वह फिर उसी तरह बोल गया।

"तो फिर दुबारा क्यों कर रहा है ?"

"पहले गलत हो गये पापा।" उसने इस बार गर्दन उठाई और मुझसे आँखें मिलाकर बेझिझक बना डाला।

मैं स्तब्ध रह गया सुनकर कि इस नानायक के सवाल ही नहीं, जवाब भी खतरनाक हैं।

[illegible] मुझे कहा, 'पा-पा...सो-जा मुन्ने...मैं तुम्हें [illegible], कि कल भगवान से [illegible] भी [illegible]।''

और यद्यपि मुझे रात कुछ नींद नहीं आई, फिर भी सुकांत के इतने [illegible] कोई [illegible] की झलक नहीं लगी। आप भी कुछ अनुमान करें कि मैं सुकांत से [illegible] देता?

खैर, इसे छोड़िये। और सुनिये सुकांत की बातें।

पिछले शनिवार को जब मैं दफ्तर से घर पहुँचा, सुकांत मेरी बाट जोह रहा था। घर में घुसते ही पूछा, ''पापा, शांति-पाठ क्या होता है?''

'शांति-पाठ?''

मैं चौंककर रह गया कि इस कोमल बच्चे के दिमाग में इतना विकट पाठ कैसे घुस पड़ा। कोई समाधान जरूरी था, तो मैंने समझाया, ''हम सब हिल-मिलकर रहें, लड़ें-झगड़ें नहीं और कोई दुखी न हो, तो शांति-पाठ उसको कहते हैं।''

''ऊ-हूँ, आपको मालूम भी नहीं।'' सुकांत ने दो-टूक कह डाला।

''तो फिर तुम बताओ।'' मैं सुनकर मुसकराया।

''मेरी स्कूल में है न, बहनजी हैं न, हम सबको आँखें बंद करवाकर, हाथ जुड़वाकर लाइन में खड़ा करती हैं और कहती हैं, चुपचाप खड़े-खड़े शांति-पाठ करो। इसे कहते हैं शांति-पाठ।''

मुझे जोर से हँसी आयी। हँसकर मैंने देखा कि सुकांत रोने लगा है। रोते-रोते उसने बताया, ''पापा, लड़के रोज शांति-पाठ में मेरे पीछे से चिकोटियाँ काटते हैं। कहते हैं—आँखें बंद, आँखें बंद...नहीं तो बहनजी मारेंगी। शांति-पाठ में आँखें बंद न हों तो बहनजी क्यों मारती हैं, पापा?''

आप यह बताइये कि मैं सुकांत को क्या बताता!

कोई शांति-पाठ पढ़ते हुए मार से आतंकित रहे, यह क्या बर्दाश्त करने जैसी बात है?

और एक दिन यही सुकांत धूप में बैठा था। मेरी तरफ उसकी पीठ थी। मेरा ध्यान गया कि बहुत देर से वह अविचल और शांत बैठा है। यह अविश्वसनीय बात थी। मैं धीमे से चलकर उसके पीछे गया और देखने लगा कि वह कहाँ उलझा है।

उसके दायें हाथ में एक बॉल-पेन थी जिसे वह हाफ-पैण्ट से नीचे अपने नंगे घुटने पर अंधाधुंध चलाता जा रहा था। कुछ देर देखकर मैंने उसे दुलारते हुए पूछा, "मुक्तान, क्या कर रहा है रे ?"

"घुचघुचिये।" बिना जरा सी भी गर्दन उठाये, पेन चलाते हुए सुकांत बोला।

"और इस घुटने पर क्या किया ?" मैंने उसके दूसरे घुटने पर स्याही देखकर इशारा किया।

"घुचघुचिये।" वह फिर उसी तरह बोल गया।

"तो फिर दुबारा क्यों कर रहा है ?"

"पहले गलत हो गये पापा।" उसने इस बार गर्दन उठाई और मुझसे आँखें मिलाकर बेझिझक बता डाला।

मैं स्तब्ध रह गया सुनकर कि इस नालायक के सवाल ही नहीं, जवाब भी खतरनाक हैं।

आहट

"अरे! रुपला रु..!" टिकुड़ी हाथ भर ऊँची खाई में कोदकर बाहर निकली और फावड़ा हाथ में लेकर आलू के खेत में खड़े रुपले की ओर से पुकारा।

"तू खाई पूरी करके ही रोटी खाएगी क्या?" रेत और ओस से बदरंग अपने छोटे-छोटे पैरों से दौड़ता रुपला आ धमका और अपनी बहन की सम्भावित रोष से बचने के लिए बहाना घड़ डाला जैसे।

'खाई के मनभाये! तुम आखिर से क्या कह रहा था?" टिकुड़ी पर रुपले की चतुराई बेअसर गुजरी और उसने लपककर उसका कान पकड़ लिया, "थाम, जल्दी से थाम... कान निकालकर हाथ में दे दूंगी तेरा!"
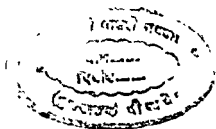
"यह पूछ रहा था, आज अपने खेत में कौन-कौन रहेगा?" पीड़ से मुँह मचकोड़ता रुपला बोला।

"तूने क्या बताया?"

"बताया कि तू अकेली रहेगी..."

"मर, जाकर झोंपड़े के आगे बैठ, कागले (कौवे) पड़ों में चोंच दे रहे होंगे।" टिकुड़ी ने रुपले का कान इत्ती देर बाद छोड़ा और फिर फावड़ा उठाकर खाई में कूद गई, "मरी के!" आलू के खेत के बीच नजर आते झोंपड़े पर उसने नजर डाली और फावड़ा चलाने लगी।

खाई पूरी होने में जरा-सी कसर समझो। टिकुड़ी के बापू को ... मांदगी ने न पकड़ा होता, तो यह काम उन्हीं को करना होता। ...ने पर गए और वहीं रह गए। फिर माँ भी उनकी टहल

...के सपनों में

करने चली गयी। खेत में कांधे-कांधे ऊँची बाजरी खड़ी थी। मोठ इत्ते घेर-घुमेर कि पैर धरने की ठौर नहीं। 'डागरों में खेत का जापता करना जरूरी है ..' टिकुड़ी ने सयाने किसान की तरह सोचा और आप ही आप फावड़ा उठा लिया। फिर मन में यह ललक उतरती गयी कि बापू को पता लगेगा तो कित्ती बड़ाई होगी—जबर भई टिकुड़ी...खेत की इत्ती लम्बी मींड पर अकेली ने खाई दे दी!

टिकुड़ी को खेत में खटते पूरा महीना बीत गया है। माँ-बापू दूजे-तीजे दिन घर बहीर होते हों तो उनकी बला से उसका मन तो इस मोठ-बाजरी में रम गया लगता है। हाँ, रुघला उसके पास ही रहता है। रहे तो रहे, न रहे तो भी टिकुड़ी को परवाह नहीं।

"टिकुड़ी! अब एक दिन घर जा आ। देख, तेरे डील पर कित्ता मैल जम गया है। चोखी तरह नहा-धो आ, भलीमाणस!" जाते-जाते माँ उसे समझाती गयी थी।

"सुण माँ, तेरी टिकुड़ी तो खेत से दाना-दाना चुगकर डेरे उठाने के बाद ही घर जाएगी।" दूर सरकती माँ को मन-ही-मन यह संदेश देकर टिकुड़ी ने लहंगे के पांयचे टांग लिये थे और घेर-घुमेर मोठ के पौधों तले उगती अनचाही घास नोचने चली गयी थी।

और यह रुघला आज सुबह से रट लगाए है कि साँझ पड़े वह भी आज काके के साथ घर जाएगा।" जाए तो जा मर, मुझे क्या अकेली को कोई खाने आएगा। हाँ, बापू से इतना अवस कह देना कि टिकुड़ी ने खाई पूरी दे दी है।" टिकुड़ी ने एक बार बोलकर, और बीस बार अपने-अपने में बड़बड़ाकर रुघले को यह लताड़ दे डाली थी आखिर अपने खेत में उसे डर किस बात का!

रुघला आसू के खेत नहीं गया, तब तक कोई बात न थी, पर अब! रुघला के साथ अपने ही अचीते में किया हुआ कठोर बर्ताव खुद टिकुड़ी के आगे पहेली बनता जा रहा था। बात तो फकत इत्ती ही है न कि यह मरा रुघला ठौर-ठौर कह आया है कि टिकुड़ी आज रात अकेली ही खेत में रहेगी। झुंझलाहट में और नहीं तो उसने अपना जोर फावड़े पर उतारा। बची हुई दूरी को झटपट-झटपटकर खाई पूरी की और झोरड़े

पहुँच गयी। सच बात इतनी देर का ऐसा जोर रहा कि छींट ही नहीं पड़ी। किसी को गेर से बचने की नौबत ही नहीं आयी। पर उससे पहले और उससे भी पहले भी ना। टिकुड़ी गेर में रहती थी। तब ऐसा कभी नहीं हुआ। टिकुड़ी अपने पेरे पर जोर डालती जा रही थी। यह...यह तो बस इसी बरस शुरू हुआ है। गाल-गहोग में गेरां में कोई हेमा तो कोई पेमला और यह सरा बापू उसे अकेली देखकर ऐसे आते हैं जैसे गुड़ की भेली के पास मकोड़े।

"टिकुड़ी, मेरी दियासलाई भीग गयी...दो तीलियां तो दे जरा।" कहता-कहता हेमा उस दिन झोंपड़े में आ धमका था। टिकुड़ी अपनी और रुपले की रोटी पो रही थी। फिर वह बिना मनुहार के ही चूल्हे के सामने बैठ गया।

"दियासलाई मेरे पास नहीं है...ले जाना है तो बास्दें (आग) ले जा..." टिकुड़ी ने चेमन में लोहे की कुड़छी चूल्हे में डाली और सीरे भरकर हेमा के सामने कर दिए।

"सीरों का क्या करूं? ऐसे सीरे तो मेरे में तुम्हें देख-देखकर ही सुलगने लगते हैं...तू तो थोड़ा-सा पानी दे दे मुझे!" हेमा गोल-मटोल समझाइस करता-सा बोला।

टिकुड़ी अपनी समझ मुताबिक तो समझ ही गयी। और कुछ नहीं सूझा, तो वहीं बैठे-बैठे आवाज लगाई, "रुपला रू...देख तो, काका अपने खेत में क्या कर रहे हैं?"

हेमा उठ खड़ा हुआ। टिकुड़ी अपनी अक्ल आप ही आप सराहने लगी। तभी आवाज सुनकर रुपला आ पहुँचा, 'तूने हेला दिया, क्या कह रही थी?"

"कुछ नहीं, तू कहाँ ढूंढ़ता फिर रहा था?"

"टिकुड़ी, तू हर वक्त मुझे फटकारती क्यों है? मैं बापू से कहूँगा कि तेरे साथ अकेला नहीं छोड़ें मुझे।" रुपला रुआँसा हो गया और अपना जाँघिया सँभालता झोंपड़े से बाहर निकल गया।

ढलते-ढलते सूरज किसी कुंकुम से भरे-जड़े थाल सरीखा हो गया और फिर जैसे हाथ से छूटकर धोरे के पीछे गिर पड़ा। थाल भरी कुंकुम

[illegible] । काकड़ी के लिए जो पहले [illegible] सोच रहे थे, अब फसल अपनी [illegible] टिकुड़ी [illegible] रहे थे । एक-दो, एक-दो करते करते आसमान [illegible] । रात अंधेरी थी, जो उजाला में न सोचने वाले [illegible] सोच रहे थे । [illegible] का उजाला ही कोई उजाला [illegible] है ! टिकुड़ी को लगा कि वह आज निर्भय नहीं । पर इसके आगे पर भी साफ नहीं था कि उसे डर किस बात का है ? खड़े खेत में ढोंगर घुस जायें, इससे बड़ा तो कोई खटका ही नहीं होता । ढोंगरों से अपने खेत का गुस्सा जताना था उसने खुद आज ही कर डाला फिर !

"नींद नहीं आती तो राम-राम कर !" टिकुड़ी को अचानक ही दादी की बातों में से यह एक बात याद आयी । दादी जीती थी तो टिकुड़ी को अपने पास ही सुलाती थी । टिकुड़ी को देर तक जागते देखकर यह रामबाण नुस्खा बतलाती । टिकुड़ी ने बरसों बाद आज फिर आजमा डाला इसे । सचमुच थोड़ी देर में ही अपनी आँखों में नींद को घेरे डालते पाया उसने । 10126 —23.5.90

टिकुड़ी को नींद का पता चला ही नहीं कि टोकर लगी जैसे, गेत की नीव की तरफ से आती भुनियों की चर्र-चूँ बातों में होकर हिये में उतर गयी । एक तरेर-सी चल पड़ी उसके अन्दर । हकबकती उठकर मांचे पर बैठ गयी । चौफेर नजर पसारी । अँधेरा और सुनसान । आसमान में अनगिनत तारे पर जमीं पर फकत दो ही चिनगारियाँ उसे दिखाई पड़ी, जो टिमती-डुलती उसके मांचे की तरफ बढ़ रही थी ।

अब देर करने की गरज नहीं ! टिकुड़ी मांचे से उतरी और झोंपड़े में घुस गयी । गाढ़े अंधेरे में भी उसे इस रुत में सदैव लगा रहने वाला सांप-बिच्छुओं का खटका नहीं हुआ । इसी झोंपड़े में पिछली के भर उजास में ही बिच्छू ने दपने को डंक मारकर अपनी जात बता दी थी...पर टिकुड़ी ने झोंपड़े में अपनी टाई रखी जेई के लिए हाथ डाला तो झिझक नहीं हुई । उसके मन के उस अनजाने और अनदेखे डर से बड़े थोड़े ही हैं ये सांप-बिच्छू !

झोंपड़े से बाहर निकलकर टिकुड़ी की आँख सीव की तरफ फट गईं । उसकी अकल का घोड़ा दौड़ने लगा, "मरो ने पासु अर्ति ओते बीड़ियाँ—

घुमा दी है...यह पता नहीं कि यहाँ तुम्हारी मां-बाप जेई लिए पड़ी है..."

"सामने पड़ जाती होगी!" उधर से अब तेज चाल आ रही थी और टिकुड़ी के कान इतने सजग थे कि उसकी फुसफुसाहट भी भरपूर सुनाई दे गयी।

"सोती कहाँ हूँ, जाग रही हूँ...तुम सबका साया लिए बैठी हूँ न!" टिकुड़ी जितना अंदर से डरी हुई थी उतनी ही बाहर से गरजकर बोली।

"टिकुड़ी..." इस अचानक मुठभेड़ से चौंककर आगू आगे आया।

"मेरे हाथ में जेई है, ध्यान रखना। नजदीक आए तो जोंगी को, मोहरन पूछने नहीं जाऊँगी।" टिकुड़ी ने आवाज की दिशा में जेई का मुँह सहरा दिया और बेतरह गरजकर बोली।

आगू के पैर अपनी ठौर गैंठ गए जैसे। टिकुड़ी ने उसके पीछे गड़मड होती छायाओं को भी पहचान लिया। वही दोनों थे—हेमा और पेमला।

"किस मकसद से आए हो सब ?"

"वो, वो...हाँ, पेमला है न...मेरा भाई...मैं तुमसे कहने आया हूँ कि यह मुझसे मांग-मांगकर बीड़ियाँ पीता है।" आगू ने ही मोर्चा सँभाला।

"तो ?"

"अब मैं उसे नहीं दूंगा।" आगू ने दो पैर आगे रखे और निडाम घोलता बोला, "टिकुड़ी, तेरे साथ थोड़ी देर हथाई करने आए थे हम सब, तू अकेली है न!"

"तुम तीनों अपना रास्ता ले लो..." टिकुड़ी आगे कुछ बोलती कि अचानक ही उसका जेई थामा हाथ आगू की चौड़ी हथेली की गिरफ्त में आ गया। उसने मरोड़ लेकर छूटने की चेष्टा की तो गुंजायश पाकर हेमा और पेमला भी पहुँच चुके थे।

"बैरियो, मैं तुम तीनों को कुछ नहीं दूंगी..." कहकर टिकुड़ी पूरे जोर से नीचे झुकी और भरपूर ताकत झोंककर ऊपर को झटका खाया, तो उसके दोनों हाथ उनसे छूट गए, "पेट बींध दूंगी..." उसने पलटकर

ई का मुँह सीधा कर अँधाधुध चलाना शुरू कर दिया।

टिकुडी ने पाया कि सामने जैसे कोई है ही नहीं। वह जब जेई चला ही थी, तभी तीनों छायाओं ने अपने-अपने माथे भिडाए और पलटकर गाँव की तरफ सरकने लगी थी।

"बात तुम मुर्दों की...मेरे बापू को आने दो..." टिकुडी अँधेरे में अनुमान से उनके पीछे नजरें दौडा रही थी और उनकी जूतियों की चर्र-चूँ को ही गालियाँ सुना रही थी। आखिर हाँफकर माँचे पर बैठ गयी। जेई को माँचे की ईस से टिकाकर साँस लेने लगी। साँस सँभली तो बेतरह गरमी लगने लगी। लगा कि परसेव में नहा गयी है। यूँ ही बैठे-बैठे उसकी रुलाई फूट पडी...अपनी दोनों हथेलियों से अपनी दोनों आँखें ढाँप ली टिकुडी ने।

तारे अपनी चाल चलते गए, रात अपनी चाल। टिकुडी की आँखों में फिर नींद नहीं लौटी। वह कुछ देर माँचे पर पसरे रहती, फिर उठकर बैठ जाती। उसकी इस उठ-बैठ में ही पूरब की तरफ से सूरज ने अपना मुँह निकाल लिया। धोरे, झोंपडे, खेत-बाड, पेड और आसपास की हर चीज उजास में धीमे-धीमे चहक होने लगी और रोही की चिडकलियों ने चोंच खोल-खोलकर उजास का जस गाना शुरू किया। टिकुडी को अब जाकर पूरा प्यावस हुआ। उसकी नजर दूर धोरों के बीच से आते कच्चे रास्ते पर बँधकर रह गयी। पहली, दूसरी या पता नहीं किस गाडी में घर से कोई जरूर आ जाएगा। उसने मन ही मन बापूजी की निवरण की, कि आज बापू ही ठीक होकर खेत आ जाएँ।

टिकुडी पूरी रात मन-ही-मन अपना यह निश्चय दोहराती रही थी कि इन मरों की शिकायत आज वह बापू के आगे जरूर करेगी। ये यूँ ही नहीं मानेंगे। बापू की एक दकाल पर ही इनका पित्त-पानी दिर हो जाएगा। गाडियाँ आने लगी थी। एक, दो, पाँच, सात...पता नहीं कितनी गाडियाँ गुजरी कि अचानक उसे अपनी गाडी आती दीख पडी। और भी भली बात यह थी कि गाडी को बापू चला रहे थे। जाने क्या हुआ कि बापू का चेहरा जैसे ही पास आता जान पडा, टिकुडी की छाती दहकने लगी। वह...वह क्या कहेगी बापू से ? लगा जैसे खुद अपने से ही कोई

बेजा बात हो गयी है। यही कहेगी कि बापू, हेमा और पेमला ने मिलकर तेरे साथ...क्या किया तेरे साथ।

टिकुडी को लगा कि उसे लाज आ रही है। लाज और टिकुडी को! ऐसी टिकुडी को जो खेत में मर्दों से बढ़कर मेहनत करे और गरज पड़े तो सबे-चौड़े खेत को अपने ही बूते परोट ले। बापू क्या सोचेंगे? पर टिकुडी को अपने आगे आज पहली बार हार माननी पड़ी कि उसे बापू के आगे यह कहते लाज आने से नहीं रहेगी। नहीं, वह कुछ नहीं कह सकेगी। टिकुड़ी ने वहीं खड़े-खड़े अपने पूरे शरीर को जैसे छिपकर निहारा और बुरी तरह लजा गयी। यह, यह क्या हो गया उसे।

यह तो खुद उसने कभी मीट जोड़कर बात नहीं की, नहीं तो...नहीं तो क्या? एक अजब मीठी-मीठी झुरझुरी दौड़ती जान पड़ी टिकुड़ी को अपने शरीर में। उस दिन पेमला आया था न! कहने लगा, "टिकुडी, आज हरिराम बाबे के परसाद चढ़ाया था। ले, तेरे लिए इत्ती सारी परसादी लाया हूँ।" पर टिकुड़ी ने कहाँ ली थी परसादी! मन में बाबे के दोष का डर लगा, पर परसादी के पेड़ों पर टिकुडी का मन क्यों नहीं ललचाया? रघले ने बड़े चाव से पेड़े खाए...टिकुडी अबोल रीस में भरकर देखती रही फकत।

गाड़ी कब खेत में पहुँची और कब झोंपड़े के आगे जाकर ठहरी, टिकुडी को इस सुन्न में कुछ पता नहीं लगा। बैल ने थमते ही जोर से गर्दन हिलाई, तो गले में बँधा टणकोरा टण-टण बजने लगा।

"टिकु बेटा, खड़ी ही रहेगी या गाडी का सरजाम भी उतारेगी?" बापू ने उसे पुकारकर पूछा।

तभी उसने गौर किया उधर। बापू के साथ ही गाड़ी से उतरकर यह कौन खड़ा हो गया? टिकुडी ने क्षण-एक को छोटी अवस्था के उस शहरी बाबू को देखा और गाडी में रखी ओडी उठाने आगे बढ़ गयी। न आज वह बापू को देखकर सदैव की तरह अनमाप हुलस से दौड़ी और न ही उतावले बोलों में खेत में किए अपने कौरत का बखान कर सकी। बस, सयानी-सी आयी और ओडी उतारकर झोंपड़े में रख आयी। फिर पानी के घड़े बापू उतारकर खेजडी तले छाया में रखने लगे। टिकुड़ी ने तो यह तक नहीं

पूछा कि बापू आज किसे साथ ले आए हैं ?

"यह अपने मोहन का सायना है...शहर से आया है।" बापू ने उस शहरी बाबू के कंधे पर हाथ रखकर बताया, "खेत देखने के चाव से आया है।" यह कहते ही जाने क्यों बापू को हँसी आ गयी।

टिकुड़ी ने मांचा लाकर ओसारे की एक तरफ पड़ती छाया में बिछा दिया। शहरी बाबू ने जैसे आसपास कुछ देखा ही नहीं, अपने में ही लीन-सा मांचे पर बैठ गया। टिकुड़ी उसके कसे-काठे कपड़े जैसे छिप-छिपकर देख रही थी।

रात की बात जैसे उसके चित्त से सरक चुकी थी।

तीन दिन बीते।

मोहन का वह शहरी भायला अभी भी खेत में था। वह दिन-भर छाया खोजता अपना मांचा एक ठौर से दूजी ठौर घीसता रहता और कच्चे मतीरे फोड़ता रहता। उसकी हर बात को टिकुड़ी अचम्भे से भर-भरकर देखती रहती, पर बोलती कुछ नहीं। उसका ट्रांजिस्टर, जो टिकुड़ी को अपने गाँव के नाई की रछानी (हजामत-पेटी) जैसा लगा ही, उसके लिए दान-बतल का साधन था जैसे। दिन-भर उसकी सुई चलाता रहता।

"तुझे मतीरे के कच्चे-पक्के का पता नहीं लगता, बेटा...तू टिकुड़ी को कहकर मतीरा मंगवा लिया कर।" बापू ने उसे पहले ही दिन समझा-इस कर दी थी, पर वह था कि टिकुड़ी को जैसे कुछ समझता ही नहीं। वह पास खड़ी होती तो भी कच्चा मतीरा बेल से झटक लेता और अनाड़ी-पन में उसे फोड़कर कच्ची सफेद गिरी देखता और फेंक देता।

टिकुड़ी को रीस आती, "कहाँ से आया है यह डफोल कहीं का ! मोहन के साथ शहर में पढ़ता है, मतीरा परखने का तो शऊर ही नहीं।" मन करता कि जैसे ही बेल में हाथ डाले, लपककर पकड़ ले और कह डाले, "लाडेसर, लड्डू नहीं मतीरे हैं, .बहुत तपने से निपजते हैं .खबर-दार, जो कच्चे तोड़कर खराब किए तो...!" वह कहाँ पायी यह ऐसा !

बापू निनाण में जुट गए। टिकुड़ी भी पोयचे टाँगे, कस्सी थामे उनके साथ लगती, पर रोटी पोने तो झोंपड़े में आना ही पड़ता। तब वह देखती

अपने मोहन के भायले को। इसको तो बडा गुमान है...वह सोचकर रह जाती। एक वे तीनों हैं जो उससे दो बोल बोलने को नित नये बहाने रचते फिरते हैं और एक यह कि मीट ही नही जोड़ता! टिकुड़ी के अपने खेत में और उसी से ऐसी बेरुखी। रीसभरे अबोलपन से बँटकर रह जाती टिकुडी। अवस सोचती कि बापू से कहकर इसे खेत से निकलवा क्यों नहीं देती!

"रोटी जीम ले।" यह फकत सोचना था। कहने में रोटी पोकर यही कहा टिकुड़ी ने।

वह करवट लिए माँचे पर पड़ा था। उसकी रछानी बज रही थी। उसने शायद टिकुड़ी की आवाज सुनी ही नही। टिकुड़ी की रीस बित्ता-भर ऊपर निकल आयी। झपटकर आगे बढ़ी और रछानी का कोई बटन फेर दिया।

"इत्ती बेर हो गई तुझे बुलाते!" उसके पलटकर देखते ही टिकुड़ी बोली पर आगे के बोल उसके मुँह में ही ठहर गए—बहरा है क्या?

मोहन के भायले ने मोहन की इस गँवार बहन को पहले-पहल देखा जैसे और कुछ देर ताककर हँस पडा। टिकुडी को भी हँसी आ गयी और फिर लाज।

फुर्ती से झोपडे की तरफ पलट गयी टिकुडी।

"तू मोहन का भायला है?" रोटी, साग और दही परोसकर टिकुड़ी ने थाली उसके आगे सरकाई और पूछ लिया।

"हाँ, तू उसकी बहन है...?" उसने रोटी निगलते हुए पूछा।

यह भी कोई पूछने की बात है! टिकुडी को बडा अटपटा लगा उसका यह पूछना। क्यो, क्या कसर है उसमे! क्यो नही हो सकती वह मोहन की बहन? यह तो इसीलिए पूछ रहा है न कि मोहन शहर में रहकर शहरियों जैसा दीखने लगा है और वह...टिकुडी का मन हुआ कि इसी वखत दौड़कर खेत के कुंड में थिर पड़े पानी में अपनी छवि निहारे जाकर। आसू तो कहता है कि टिकुडी-सी साँवणी इस गाँव तो क्या, पासवाले गाँव मे भी कोई बेटी-बीनणी नही। कहीं वह झूठ तो नहीं बोलता।

"तू यहाँ क्यों आया?" अचानक ही टिकुड़ी ने यह अचीता सवाल

कर जाना चाहते।

मोहन के भायले का बीच उठाता हाथ थम गया। कड़ी मींट से उसने टिकुड़ी के सामने देखा और जैसे सोचकर बोला, "मतीरे लाने, खेत देखने और मिलने।"

"ऐसे शहर में मतीरे नहीं मिलते? लारियों तो भर-भरकर ले जाते हैं शहर वाले।" टिकुड़ी का हौसला अब भरपूर था।

"मिलते हैं पर मुझे खेत भी देखना था," मोहन ने कहा कि खेत में धूप बहुत सुन्दर लगती है। खेत की हवा से आदमी निरोग हो जाता है।"

"तू और कितने दिन रहेगा?" टिकुड़ी को उसका हर बोल बेमतलब और बेमानी लगने लगा। उसने उसके मेल-महातम को बीच में ही रोककर पूछ लिया।

'क्या? मेरी मर्जी, तुझे इससे क्या?' उसने अजीब मिज़ाज से हँसकर कहा जो टिकुड़ी को कुछ भला-सा लगा।

'सच्ची बात, तू क्या फकत सत देखने ही आया है?"

"तो और यहाँ है ही क्या?" कहकर हाथ को लिए मोहन के भायले ने।

टिकुड़ी पर जैसे घड़ा-भर ठंडा पानी आ पड़ा। मोहन ने शहर में कैसे-कैसे गूमड़े (दभी) भायले बना रखे हैं! दो बोल मीठे बोलने क्या होते हैं, जैसे कुछ जानना ही नहीं। खेत में क्या फकत खेत ही होता है—मिलना नहीं होते। मिलना न हो, तो खेत ही क्यों हो, हमारे तो हल जोतने से रहे। अब जीमना मुझसे बापू ही परोसेगा अपने लाडले बेटे के लाडले भायले को। टिकुड़ी ने पदकी विचार ली।

बापू ने गाडी जोत ली, तो उसने भी अपना थैला, जिसमें वह अपनी रछानी और पूर-पहले लाया था, गले में लटका लिया। टिकुड़ी ने उसे देख कर ही पता लगा लिया था कि आज यह मोहन का भायला अपने शहर लौटने वाला है। जाए, उसकी बला से! कच्चे मतीरे तो नाश नहीं होंगे और।

सवेरे ही काका की गाडी में घर से माँ आ गयी थी। साथ ही रुखला

भी। बापू ने गाडी लाद ली, तो मोहन के भायले को लाड़ से पूछा, "मतीरों की ओर मन मे तो नही रह गयी ?"

"एकदम ही नहीं...पेट भर गया।" कहकर उसने अपने पेट पर हाथ फेरा। उसके इस भोले या बावरेपन पर पहले बापू और फिर रुघला दोनो हँसे। टिकुड़ी को फकत झुँझलाहट हुई.. डफोल कहीं का। मतीरे कोई पेट भरने की चीज है। कोरा पानी ही तो होता है...शरीर मे गया और पेशाब मे बहा...पेट मे रहा ही क्या।

बापू ने बैल की रास पकडी और उसने अपने गले को अपनी आदतमुताबिक हिलाया। टणक-टणक की आवाज मे टणकोरा बज उठा। रास खिंचते ही वह सिर धुनता रास्ते की तरफ बढने लगा। मोहन का भायला अपना थैला लटकाए गाडी के पीछे-पीछे चला। आगे ही आगे बापू, पीछे सिर धुनता बैल और गाड़ी और गाड़ी के पीछे थैला लटकाए कसे-काठे कपड़ों में मोहन का भायला...टिकुड़ी अपलक देख रही थी उन्हे जाते। अचानक ही एक अणमाप ललक उभरकर आयी टिकुड़ी के मन मे—क्या मोहन का भायला एक बार मुड़कर नही देखेगा उसकी ओर ? हो चाहे सूनडा ही, पर है कैसा गोर-निछोर ममोलिए-सा फूटरा।

उसकी दूर सरकती पीठ पर थिर हो गयी टिकुड़ी की मीट...धुन मे ही उसने अपना एक हाथ पास खड़े रुघले के कंधे पर रख दिया। खेत की मींत से गाड़ी निकलने तक उम्मीद नही छूटी उससे...वह एक बार मुड़कर अवस देखेगा। आखिर निष्फल गयी टिकुड़ी की उम्मीद। मींत से मुड़ते ही सब कुछ अलोप हो गया—बापू, बैलगाड़ी और मोहन का भायला।

टिकुड़ी की जैसे सपने मे आँख खुल गयी। वह छपरे से मुड़ी और रुघले के आगे गोडे टेककर बैठी और बडी मनवार से बोली, "रुघला... तू मेरा स्याणा बीरा है न...मेरा एक काम कर दे, दौड़कर बापू की गाडी के पीछे जा और उस मोहन के भायले से पूछकर आ कि उसका नाम क्या है ?"

"उसका ?" रुघले ने गाड़ी की दिशा मे हाथ कर मोरायन से पूछा।

"अरे, हां ! उसी मोहन के भायले का !"

बाड़े का कुत्ता
[एक प्रतीक-कथा]

बचपन से ही एक कुत्ता मेरे साथ है—उपस्थित और अनुपस्थित—दोनों सूरतों में। अपनी उपस्थिति में वह सोनलिया रोयों और सुनहरी काया वाला कुत्ता आँखें भरभर मुझे देखता रहता है। इन भोली और निरछल आँखों में मुझे अपार कृतज्ञता-भावना के दर्शन होते हैं। क्या एक कुत्ता सचमुच मुझे कृतज्ञता ज्ञापित कर रहा है?

बात बहुत पुरानी है। तब मेरा सब कुछ पिताजी पर निर्भर था। उनका तबादला अपने देस के ओझल, धूसर और रेगिस्तानी कस्बे में हो गया था। वहाँ कुछ दिन वे अकेले रहे। फिर हमें, माँ और मुझे साथ ले गये। कस्बा नवधनाढ्य सेठों से भरा था—दब्बू, शांत और निरुत्साही किस्म के कमाऊ लोग, जिन्होंने दुनिया से आँखें मूँदकर अपनी हवेलियों में लगे दौलत के ढेर पर समाधियाँ लगाने में ही अपना निर्वाण खोज रखा था।

पिताजी कस्बे की एकमात्र बैंक के मैनेजर थे। इन नये और अनपढ़ अमीरों में उनका खासा रोब था। हम वहाँ अपना भाड़े का घर देखकर भौंचक रह गये। किसी सेठ ने अपनी नयी-नकोर हवेली ही पिताजी को सौंप दी थी। इस हवेली के ठीक सामने एक सूना बाड़ा था—दसफुटी जोधपुरी पट्टियों से घिरा विस्तृत बाड़ा! यह किसी भावी हवेली की भाव-भूमि और आधार-भूमि, दोनों था। बाड़े में अत्यन्त सघनता से उगे हुए कीकर के अनगिनत पेड़ थे। कीकरों तले साँपों के निर्विघ्न विचरण की बात

सुविधा थी। हमें आस-पास की पट्टियों के पास से गुजरते सँभलकर चलने की हिदायत थी। जगह-जगह टूट चुकी उन पट्टियों के बीच की दरारों में, और भी कई साँप रात भर निकलते रहते थे। पिताजी ने हमेशा के लिए अपनी उन्हीं टॉर्च मुझे दी थी। कोई आकर बताता कि साँप निकला, तो मैं अपनी टॉर्च लेकर उसे देखने चल जाता। मुझ शहराती बच्चे के लिए साँप को अपनी मौज में स्वच्छंद विचरण करते देखना बड़ा रोमांचक अनुभव होता। काले, भूरे, चितकबरे, छोटे, बड़े विषैले और विषहीन सभी किस्म के साँप वहाँ मिलते थे।

मेरे मालूम कुत्ते की दास्तान, इसी बाड़े से शुरू हुई थी।

याद नहीं कि हमें बाड़े के सामने रहते कितने दिन बीते कि एक सवेरे पाँच-सात मजदूर कुल्हाड़ियाँ लेकर आए और बाड़े में खड़े कीकरों का सफाया करने में जुट गये। बाद में माँ ने बताया कि ये कीकर पिछली गली की एक गरीब बुढ़िया ने बाड़ा-मालिक की अनुमति लेकर अपने लिए कटवाये हैं। वह इन्हें सुखाकर सालभर का ईंधन जुटाएगी। सेठों का बाड़ा मुफ्त में साफ हो गया, बुढ़िया को ईंधन मिल गया। ऐसी पारस्परिक सद्भावना की कस्बे के लोगों में भारी प्रचुरता थी, जिसके तन्तुओं पर आज चाहूँ, तो घंटों सोच सकता हूँ। शाम होते-होते मजदूर कीकरों का कत्ले-आम कर, उनकी ढेरी पट्टियों के बाहर लगाकर चले गये। बाड़ा खुले मैदान की शक्ल में सामने था—सिवाय उसके बीच में एकाध ईंट-पत्थर के ढेर, चिकनी मिट्टी के जमे हुए छोटे-बड़े ढूहों और कुछ आक के पौधों के। बाड़े के दक्षिण में एक अधनंगा-सा बावलियेँ का पेड़ भी था, जो अब समूचे बाड़े में छाया और शीतलता का एकमात्र जरिया था।

· 2 ·

उस बाड़े में कोई द्वार न था। मजदूर पट्टियाँ उखाड़कर घुसे थे, जिन्हें उन्होंने फिर से गाड़कर बाड़ा बन्द कर दिया था। ऐसा लगता है कि बाड़े में घिरी पृथ्वी का टुकड़ा, अपने मालिकों जैसे ही बेसुध और आत्मलीन समाधि लगाये हुए था। इसे छेड़ने, सँभालने, देखने या खोलने कोई नहीं आता था। इसके स्वामित्व का पट्टा मालिकों की तिजोरी में

गंद पड़ा होगा और उनके दिलो-दिमाग में भावी हवेली के नक्शे कुल-बुलाते रहे होंगे। न जाने क्य से इस बाड़े के भाग्य में यही बदा था?

मौसम बदल चुका था। शायद नवम्बर का महीना था। यही दिन होते हैं, जब कुत्तों का कामावेग अपने चरम पर दिखाई पड़ता है। गलियों में विपरीत-मुखी रतिभिक-मुद्रा में मैथुनरत कुत्ते-कुत्ती बच्चों में कौतूहल जगाते, जहाँ-तहाँ मिल जाते थे। इसी का दूसरा पहलू था कि गली-गली में कुतियों के जापे हो रहे थे। हर गली में एकाध कुतिया धूरी में केऊँ-केऊँ करते अपने नवजातों के साथ नजर आती। कुछ बड़े होते ही ये पिल्ले बच्चों की गोदियों मे दिखाई पड़ते। जाड़े की गुनगुनी धूप में पिल्लों पर प्यार उँडेलते, उन्हें दुलारते-फटकारते या उनकी हिफाजत की फिक्र में घुलते बच्चों के दृश्य बहुत आम थे। हिफाजत की फिक्र इसलिए कि दूसरी गली का कोई कुत्ता, किसी निर्दोष पिल्ले की गर्दन फफेड़ने को हर-दम ताक में होता था, और अक्सर इस तरह पुरानी रंजिश निकालने में कुत्तों की सफलता से बच्चे वाकिफ थे। पिल्लों की जन्मदर ऊँची होती, पर यों बढ़ी हुई मृत्युदर से संतुलन बना रहता।

एक दिन मैं बाड़े के करीब से निकल रहा था कि पट्टियों के भीतर से एक बारीक आवाज कानों मे पड़ी। मैं रुक गया और दो पट्टियों के बीच फाँक पर आँख लगाकर बाड़े के भीतर देखने लगा। बहुत चेष्टापूर्वक देखने पर वह दिखाई पड़ा—ईंटों के पास कुनमुनाता हुआ नन्हा-सा पिल्ला। शायद हिफाजत के लिए किसी चाहने वाले बच्चे ने उसे बाड़े में छोड़ दिया था। पट्टियों के बीच की फाँकें इतनी बड़ी न थी कि वह इनमें से बाहर आ जाता। उस वक्त मैं अपनी राह चला गया, पर बाद में पट्टियों के पास जाकर बाड़े में ताक-झाँक करने से अपने को कैसे रोक लेता! बचपन ऐसा ही होता है, छोटी-छोटी बातों में मशगूल और उत्ते-जनाओं से लबरेज। शायद हरेक आदमी के भीतर एकाध कुत्ते का बहाना या बहाने का कुत्ता मौजूद होता है, जिसके सहारे वह जब चाहे अपने बचपन में लौट सके। मेरे पास तो सचमुच का जीता-जागता कुत्ता है।

मुझे याद है कि मैंने अपने दोस्तों के साथ मिलकर पिल्ले को निकालने

हो बिल्ली, हो कुतिया छोटी। उसे भीतर छोड़ना जितना आसान था निकालना उतना ही मुश्किल लग रहा था। मेरी मित्र-मण्डली में बारह बरस से बड़ी उम्र का कोई न था। कोई साहस नहीं कर पा रहा था कि बिना द्वार के बाड़े में कूदकर पिल्ले को निकाल लाए। पट्टियाँ दस-दस फुट खड़ी थीं, हमारे कद पाँच फुट के भीतर-भीतर थे। एक रास्ता पट्टी उखाड़ने का था, जिसमें दो बाधाएँ थीं। एक तो पट्टियाँ बहुत मजबूती से गड़ी थीं, दूसरे सेठों की डाँट-फटकार का खतरा था। यह शुद्ध रूप से हम बच्चों की उलझन थी, किसी बड़े को जरा भी फुर्सत न थी। ले-देकर मैंने माँ से कहा, तो उन्होंने सूखी-सी सहानुभूति जताकर हाथ झटक लिए।

आखिर हमने स्वीकार किया कि पिल्ला जल्दी बाहर नहीं आ सकेगा। अब सवाल उसके खाने-पीने का रह गया। एक पट्टी ऊपर से खण्डित थी जिससे छोर पर फाँक ज्यादा थी। हममें से एक एल्यूमीनियम का पुराना तसला कहीं से लाकर हमने भीतर छोड़ दिया। पिल्ला उसे उलटा देता, तो हम लम्बी छड़ी से सीधा कर लेते। रोटी पट्टियों के ऊपर से फेंकते और पानी इस तसले में उँडेल देते। यह हम सबका रोजमर्रा का शगल हो गया। बाड़े में बासी रोटियाँ यहाँ-वहाँ पड़ी रहतीं, क्योंकि हममें से हरेक इस शाही पिल्ले के पालन-पोषण को लेकर उत्साहितरेक में था। इसी अतिरेक में बड़े बहस-मुबाहिसे के बाद उसका नामकरण हुआ—जैकी! बाड़े में पलते जैकी से बच्चों के सिवाय किसी का लेना-देना न था। यहाँ तक कि किसी कुतिया ने भी बाड़े के पास आकर, अपने हावभाव से जैकी की माँ होने का दावा प्रस्तुत नहीं किया था।

3

दिन पर दिन बीतने लगे। सचमुच जैकी पिल्ले को बाड़े में कोई खतरा न था। सर्दी में साँप तक बिलों में जा दुबके थे। जैकी को लेकर जनमा मेरी मण्डली का उत्साह भी मंदा पड़ने लगा। कुछ ने उसे रोटी डालना भी छोड़ दिया था। बचपन के कौतुकों में दीर्घजीविता का सर्वथा अभाव रहता है, परन्तु मैं इस मान्यता के विपरीत चल रहा था। मुझे पक्की

आशा थी कि जैकी कोई रास्ता ढूंढ़कर, बाड़े के घेरे से बाहर पदार्पण जरूर करेगा। इसी आशा को फलीभूत देखने की ललक लेकर मैं रोजाना सवेरे उसे रोटी-पानी देने जाता। मेरी कामना रहती कि आज वह बाड़े में न मिले। पर था कि मेरी पदचाप के साथ-साथ लपक कर पट्टियों के पास चला आता। मैं फांक में से देखता, तो वह मुझे केऊँ-केऊँ करता, दुम हिलाता दिखाई पड़ता। याद करते हुए अचम्भा होता है कि अपने नाम के प्रति सजग होते इस जैकी नामक पिल्ले को लेकर मेरी भावनात्मक प्रतिक्रियाएं कितनी वैविध्यपूर्ण थीं? कभी मुझे जैकी की हालत बिना मां बाप के उस दुखी बच्चे-सी लगती, जिसका वर्णन मैंने कहानियों में सुना था। कई बार मुझे वह रोया हुआ या रोता नजर आता। पता नहीं यह सच था या मेरा अनुमान मात्र कि जैकी की आंखों की जड़ों में मुझे अक्सर एकाध बूंद आंसू मचलता दिखाई देता। मुझे जैकी को लेकर करुणा के दौरे से पड़ते, परन्तु जब वह लटूरे करता, कूदता-फांदता और खुशी जाहिर करता तो उसका बाड़े में घिरा होना मुझे बुरी तरह साल जाता। मुझे उसमें बाड़े से निकलने की अनिच्छा या असामर्थ्य देखकर झुंझलाहट होती और अमूर्त सा गुस्सा आने लगता।

होते-होते यह हुआ कि एक पल भी मैं उसे भुलाकर नहीं बैठ पाता था। एक-दो बार उसे बाहर निकालने के एकल अभियान भी मैंने चलाये। पट्टियां हिलाने की चेष्टाएं कीं और सोचा कि जड़ से खोदकर कोई पट्टी, छितकर उखाड़ डालूं। ऐसा नहीं कर पाया, तो सोचा कि किसी बड़े से कोई सलाह-मशविरा कर लूं—कुछ करूं जिससे जैकी बाड़े से छुटकारा पा सके। पट्टियों के बाहर मैं था, भीतर जैकी—बाड़े के घिरे हुए विस्तार में खाता, पीता हगता, मूतता, रोता, हंसता और दिन-दिन बड़ा होता हुआ! उसकी दूसरी मौजूदगी मेरे भीतर थी, जो मुझे पल-पल, घेरे से बाहर निकलने को फड़फड़ाती मालूम देती। यह फड़फड़ाहट जैकी की थी या मेरी, कुछ पता नहीं लगता था।

इसी ऊहापोह में मेरा वहां से जाने की घड़ी अचानक आ धमकी। पिताजी मेरी पढ़ाई के बहाने आये तब से इस जगह को कोस रहे थे। जनवरी आते-आते उन्होंने मेरा एडमीशन जयपुर के एक बड़े स्कूल में

नौकर होस्टल में रहने का प्रबन्ध कर दिया। जैकी को बाड़े से निकालने का अभियान मँझधार छोड़कर मैं वहाँ से चला गया।

इतनी दूर पहुँचकर भी मैंने जैकी को एकदम नहीं भुलाया था। यह तो सब हुआ, जब मेरे प्रबल आशावाद ने उसे अनुपस्थिति में ही बाड़े से बाहर निकालकर दम लिया। मैंने मान लिया कि वह अब तक रास्ता ढूँढकर जरूर बाहर चला आया होगा। ऐसा मानते ही वह एक साधारण गली के कुत्ते में बदल गया—जिसे भुलाना मुश्किल नहीं होता। फिर मेरे नये माहौल में कितनी ही नयी चीजें थी, जिन्होंने उसकी याद को मुझसे धकेल बाहर करने में मुझे चाही-अनचाही मदद पहुँचाई। मैंने अपनी पहली-पहली चिट्ठियों में उसका जिक्र जरूर किया, जिसके बदले में घर से कोई समाचार नहीं मिला। आखिर जैकी बेचारा एक पिल्ला ही तो था, जिसे पिताजी जैसे सयाने लोग क्यों तूल देते?

४

मैं छोड़कर होस्टल आया, तब तक जैकी को बाड़े में रहते लगभग दो महीने बीत चुके थे। दो-तीन महीने होस्टल में उसकी याद बनी रही, फिर वह मुझसे एकदम ओझल हो गया। यहाँ तक कि सत्र समाप्ति के बाद, छुट्टियों में घर लौटते हुए भी उसकी याद नहीं कौंधी। मैं स्कूल और होस्टल के ढेरों संस्मरण सँजोए घर पहुँचा—वहीं, उसी हवेलियों वाले कस्बे में जहाँ पिताजी हमें ले आये थे।

मेरे पीछे पिताजी ने वह हवेली छोड़कर एक मँझोला-सा, घर दूसरे मुहल्ले में ले लिया था। इस घर के सामने न बाड़ा था, न जैकी ही कहीं नजर आ सकता था। यहाँ पहुँचने पर उसकी याद ने भीतर हल्की सी करवट जरूर बदली थी, पर मैं ध्यान नहीं दे पाया था। शायद मुझे आए कोई दस-पन्द्रह दिन बीते थे कि एक दिन उधर से शब्दशरणजी आए। वे हमारे हवेली वाले घर के बायें बाजू पड़ोसी थे।

सवेरे का वक्त था। शब्दशरणजी पिताजी से बातें कर रहे थे। मैं पास से गुजरा, तो उन्होंने मुझे पुकार लिया। ऊँचे कद, फैले डील-डौल और साँवले रंग के, खिल-खिल हँसने वाले शब्दशरणजी का सबसे अप्रिय

परिचय का उनका निहायत [illegible] अन्दाज होता। सिपाही [illegible]
उनके टूटे-फूटे और मुसीबतों पर हँसा करते थे। इसलिए मुझे शब्दशरणजी
से यह जानकर बड़ा अचम्भा हुआ था कि वे सिपाही जैसे ऊँची नाक वाले
घमंडी अकड़ आदमी से वे किस बूते पर मिलने आते हैं? उस जैसे मस्त
और नाराज़ी आदमी को देने के लिए मेरे सिपाही के पास कुछ नहीं था।

“अरे यार! हमसे नहीं बोलोगे... क्यों ले क्या इतनी ऊँची पढ़ाई
कर आए?” शब्दशरणजी के बोलने से जाना कि मेरे लंदन जाने की
उनको पूरी खबर है। कुछ ऐसे ही बेतुके वाक्य बोलकर उन्होंने मुझे
अपने घर आने का न्योता दिया। मैंने हाँ भरी, तो अचानक चहक पड़े,
“और हाँ, उनसे नहीं मिलोगे, अपने बाड़े वाले दोस्त जैकी से?”

एक पल में समूचा बाड़ा उलट-फेर मचाता मेरी याददाश्त के ऊपर
तैर गया। बाड़े में मौजूद नन्हा जैकी जैसे वहीं से उछल कर बाहर निकल
आया। मैं इतनी देर चुप रहा था, अब और रहना नहीं हुआ। तपाक से
पूछा, “जैकी अभी तक बाड़े में है? बाहर नहीं निकला?”

“क्यों निकलेगा?” शब्दशरणजी बताने लगे, “मैं रोज उसे रोटी
खिलाता हूँ, पानी पिला देता हूँ—उसे और क्या चाहिए?”

सरलता, एकदम निष्प्राण सरलता से सोचें तो शब्दशरणजी का
कहना अक्षरशः सही लगेगा। आखिर एक कुत्ते को और क्या चाहिए?
बैठे बिठाए खाना-पीना और पेट खाली करने के लिए खुला मैदान, जहाँ
वह सूँघ-सूँघ कर इसके निमित्त अपनी मन पसन्द ठौर पा सके। इसकी
जैकी के पास क्या कमी थी?

: ५ :

मैं बाड़े पहुँचा, तो अँधेरा घिर चुका था। अच्छी तरह याद है कि
वह एक पूरे चाँद की रात थी। चाँद सरे शाम से ही आसमान के एक ओर
इठलाता हुआ कस्बे के रोम-रोम पर शहद बरसा रहा था। बाड़े की लाल
पट्टियाँ दूर से दीखते ही मन में हिलोरें उठने लगी थीं—जैसे कि किसी
[illegible] प्रिय से भेंट होने वाली हो! कहाँ छिपा होगा? पुकारने पर चला
[illegible]? अपना नाम भूल तो नहीं गया? इसी तरह की उधेड़-बुन

के सपनों में

करता मैं बाड़े के कोने पर जा खड़ा हुआ। वही इकसार पट्टियों का घेरा और ऊपर झाँकते दुबारा उग आए कीकरों के सिर! थोड़ी देर खड़े रहने के बाद मन में अपने पर ही खीझ-सी उठी—आने के लिए गलत वक्त क्यों चुना? खूब जोत में था चाँद, फिर भी उसके उजास के भरोसे कीकरों के झुरमुट तले जैकी को ढूंढना दुष्कर था। लाख इच्छा रहते भी दिन में क्यों नहीं आया? दरअसल भर-दोपहर एक कुत्ते से मिलने जाने की बात पर मैं जैसे अपने आगे ही शर्मिन्दा-सा हो रहा था। इसे धकेलकर चले आने में ही अँधेरा हो गया था। यह संभवतः अपने वयस्क होते जाने का आकार लेना अहसास था, जो मुझमें मेरे बचपन का बेझिझकपन धीमे-धीमे हथियाता जा रहा था। यही दिन थे, जब मैं अपने क्रियाकलापों को दूसरों की आँख से भी देखना सीख रहा था।

गली के एक पहलू पर चाँद के तिरछेपन से छिटकती अँधेरे की झालर सरीखी पट्टियों की छाया पड़ रही थी। मैं इस छाया में धीमे-धीमे चला तो लगा कि रेंग रहा हूँ। सताये हुए साँप जैसी अवस्था में, कि कोई सुराग मिले और मैं उसमें घुस पड़ूँ। आवाज देकर पुकारूँ—जैकी! जैकी! लेकिन जीभ में ऐंठन होने लगी कि कोई दूसरा निकल बाहर न आ जाए! किसी फालतू पूछताछ का जवाब देने की सोच कर ही सिहरन हुई। फाँक से बाड़े में देखने की व्यर्थता तो पहले ही समझ चुका था, फिर भी यही करने की पल-पल इच्छा हो रही थी। पट्टियों की लम्बी कतार को छूकर पार करता मैं बाड़े के छोर पर पहुँचा कि उसने पुकारा—भौं-भौं! बेसब्री से मैंने फाँक पर आँख धरी। कुछ सूझा नहीं, पर यह साफ हो गया कि आवाज भीतर से आई है। मैं लपककर ऊपर से खण्डित, ज्यादा चौड़ी फाँक वाली पट्टी पर पहुँचा और उचक-उचक कर आवाज की दिशा में उसे ढूंढने लगा। अचानक मेरी धड़कन गले में आ गई, पपोटों पर धड़क-धड़क अनुभव करते हुए मैंने देखा उसे—कीकरों के बीच अपेक्षाकृत ऊँचे मिट्टी के ढूह पर बैठा हुआ हमारा जैकी ही भौंक रहा था। चाँद सरक-कर कुछ ऊपर आ गया था। चाँदनी ने जैकी और ढूह दोनों को रोशन कर दिया था। मटमैले ढूह पर उसकी मोतिया काया किसी जेवर की तरह जगमगा रही थी। जैकी, हमारा नन्हा सा पिल्ला चंचल होकर मेरे

बुलंदी में मुझे अपनी पिछली सब चेष्टाएँ अधूरी और ओछी लगने लगीं। सब-कुछ नये सिरे से करने के लिए एक अजब उत्तेजना मुझ पर नशे की तरह छाने लगी। इसके बावजूद थोड़ी दूर चलते ही, मैंने अपने को अकेला पाया। मुझे सोचना पड़ा कि कौन हो सकता है जिससे इस पेचीदे काम में कोई सहयोग ले सकूँ। या, क्या बिना किसी के कहे-सुने अकेले सब-कुछ अंजाम दे डालूँ? बात करने को भी किसी दूसरे की खोज शुरू की, तो अचानक पाया कि समूची दुनिया निर्जन हो गई है। किसके पास फुर्सत होगी कि ऐसे सिरफिरे अभियान का ज़रा भी भागीदार बने!

एक आदमी था जिस पर मेरी उम्मीद की डोर ढेरे डालने लगी—शब्दशरण जी? उन्होंने अपनी पहल से मेरे आगे जैकी की बात छेड़ी थी और यह भी बताया था कि वही उसे रोटी-पानी देकर पालते रहे थे। एक धुंधली-सी उम्मीद बनी कि जरूर उन्हें जैकी से थोड़ा-बहुत मोह होगा। परंतु शब्दशरण जी को मेरे मन ने कभी किसी काम का आदमी स्वीकार ही नहीं किया था। सामने पड़ने पर उनको रस्मी तौर पर या देखा-देखी अभिवादन जरूर करता था, लेकिन उनके दर्शन होने पर पता नहीं क्यों मुँह का जायका बिगड़ जाता था। एक नाजुक नाम के धारक होकर भी शब्दशरण जी अपने उजड्डपन के लिए नामी थे। उनकी कद-काठी, चाल-ढाल और व्यवहार को तौलकर लोग उन्हें पीछे से 'ऊँट' कहना पसन्द करते थे। अपने प्रिय चेलों में भी वे 'ऊँट मास्साब' कहाते हैं—यह भी मुझसे छिपा नहीं था। फिर भी, विडंबना थी कि जैकी-प्रकरण पर बात करने के लिए उनसे बढ़कर दूसरा कोई न था।

मैं झिझकता हुआ उन्हीं के पास जा पहुँचा। उनका लड़का मेरी पुरानी मण्डली का सदस्य था, परन्तु मेरे होस्टल में आने के बाद मुझ से कटा-कटा रहने लगा था। वर्ना मैं उसके पिता से पहले उसी पर अपना दारोमदार टिकाकर देखता। मैं जब पहुँचा, वह घर पर भी नहीं था। मेरे सामने बाधा यह थी कि कहाँ से शुरू करूँ? वह फेर और लाचारी मुझे अभी तक ज्यों-की-त्यों याद है, जबकि शब्दशरणजी की समूची गृहस्थी मेरे सत्कार में बिछती-सी नजर आ रही थी। कस्बाई जीवन के हिसाब से मेरे पिताजी का कद काफी ऊँचा था, जिसने मुझे भी एक

चुनौती में मुझे अपनी पिछली सब चेष्टाएँ अधूरी और ओछी लगने लगीं सब-कुछ नये सिरे से करने के लिए एक अजब उत्तेजना मुझ पर नशे की तरह छाने लगी। इसके बावजूद थोड़ी दूर चलते ही, मैंने अपने को अकेला पाया। मुझे सोचना पड़ा कि कौन हो सकता है जिससे इस पेचीदे काम में कोई सहयोग ले सकूँ। या, क्या बिना किसी के कहे-सुने अकेले सब-कुछ अंजाम दे डालूँ? बात करने को भी किसी दूसरे की खोज शुरू की, तो अचानक पाया कि समूची दुनिया निर्जन हो गई है। जिसके पास फुर्सत होती कि ऐसे सिरफिरे अभियान का जरा भी भागीदार बने!

एक आदमी था जिस पर मेरी उम्मीद की डोर डेरे डालने लगी—शब्दशरण जी? उन्होंने अपनी पहल से मेरे आगे जैकी की बात छेड़ी थी और यह भी बताया था कि वही उसे रोटी-पानी देकर पालते रहे थे। एक धुंधली-सी उम्मीद बनी कि जरूर उन्हें जैकी से थोड़ा-बहुत मोह होगा। परन्तु शब्दशरण जी को मेरे मन ने कभी किसी काम का आदमी स्वीकार ही नहीं किया था। सामने पड़ने पर उनको रस्मी तौर पर या देखा-देखी अभिवादन जरूर करता था, लेकिन उनके दर्शन होने पर पता नहीं क्यों मुँह का जायका बिगड़ जाता था। एक नाजुक नाम के धारक होकर भी शब्दशरण जी अपने उजड्डपन के लिए नामी थे। उनकी कद-काठी, चाल-ढाल और व्यवहार को तौलकर लोग उन्हें पीछे से 'ऊँट' कहना पसन्द करते थे। अपने प्रिय चेलों में भी वे 'ऊँट मास्साब' कहाते हैं—यह भी मुझसे छिपा नहीं था। फिर भी, विवशता थी कि जैकी-प्रकरण पर बात करने के लिए उनसे बढ़कर दूसरा कोई न था।

मैं झिझकता हुआ उन्हीं के पास जा पहुँचा। उनका लड़का मेरी पुरानी मण्डली का सदस्य था, परन्तु मेरे होस्टल से आने के बाद मुझ से कटा-कटा रहने लगा था। वर्ना मैं उसके पिता से पहले उसी पर अपना दारोमदार टिकाकर देखता। मैं जब पहुँचा, वह घर पर भी नहीं था। मेरे सामने बाधा यह थी कि कहाँ से शुरू करूँ? वह झेंप और लाचारी मुझे अभी तक ज्यों-की-त्यों याद है, जबकि शब्दशरणजी की समूची गृहस्थी मेरे सत्कार में बिछती-सी नजर आ रही थी। कस्बाई जीवन के हिसाब से मेरे पिताजी का कद काफी ऊँचा था, जिससे मुझे भी एक

भीतर-भीतर छटपटाने लगा। हँसी थमते ही मैंने तैश मे कहा, "मैं उसे बाहर निकालकर रहूँगा।"

शब्दशरणजी ने मुझे पल भर पराई सी नजर से देखा और बोले, "कैसे निकालोगे? वह बाहर आना ही नही चाहता।"

"क्यो?" मैंने अबोधपन से पूछा।

"एक बार निकाला था, फिर मुझे ही इसे वापस अदर डालना पडा।" शब्दशरणजी ने आश्चर्यजनक गभीरता से कहा।

"जैकी बाडे से निकला था?" मैंने व्यग्रता से जानना चाहा।

"हाँ, बाडे वालो ने निकलवाया था। उनके नौकर लट्ठ लेकर पिल पडे इस पर... इसने उनको बाडे के खूब चक्कर कटवाये, पर इतनी जगह मे कितनी देर भागता? एक पट्टी उखाडकर वे अन्दर गए थे, जैकी मार से बचता-बचता उसी रास्ते गली मे भाग आया। उन्होने पट्टी लगाकर बाडा बद कर दिया और जैकी बाहर रह गया।" शब्दशरण ने किसी चश्मदीद गवाह के बयान की तरह बता डाला।

"तो फिर आपने इसे वापस बाडे मे क्यो डाल दिया?" मैं आवेश मे आता बोला।

"क्या करता?" शब्दशरणजी एकदम सयाने नजर आने लगे। बोले, "बाहर इसे रास नही आना था। मुश्किल से दस दिन बाहर बिताये इसने। हरदम दूसरे कुत्तो से डरा-सहमा दुम दबाये छिपता फिरता। कुत्ते इसको सूँघ-सूँघ कर चले जाते, यह अपने शरीर को सिकोडे पडा रहता। छिपने की तलाश मे लोगो के घरो मे घुस पडता। हमारी तो छत तक चला जाता था। भूखा-प्यासा और लुटा-पिटा-सा रहता। दस दिनों मे यह सूखने लग गया। मुझे इसकी हालत पर तरस आ गया और मैंने इसे उठा-कर बाड़े मे छोड दिया। दुबारा वहाँ पहुँचते ही इसने बाड़े का एक चक्कर लगाया और जाकर अपने सिंहासन पर विराजमान हो गया।"

जैकी का बाडे मे एक ही सिंहासन था, जमी हुई चिकनी मिट्टी का ढूह।

यह सुनकर मैं वहाँ से चुपचाप चला आया था। जैकी के बाहर निकलकर बाडे मे दुबारा पहुँचने के किस्से ने मुझे झकझोरकर छोड़

मैंने उसके हुलिये से ही उसका परिचय पा लिया था। बाजार में पल्लेदारी करने वाला बिहारी मजदूर था, जो मुझे स्थानीय सेठ-साहूकार का नाता समझकर अदब से बात कर रहा था।

"कैसे ढूंढ़ोगे?" मैंने पलटकर पूछा।

"बाड़े में जाकर, और कैसे?"

"तुम बाड़े में जा सकते हो?" मुझे उसकी सरलता पर विश्वास नहीं हो रहा था।

"क्यों नहीं... हम तो तुम्हारे कुत्ते को पकड़ भी लायें!" उसने उसी तरह कहा।

"मैं तुम्हें पांच रुपये दूंगा।"

"अच्छी कही बाबू... ई कुत्तवा कोनो चीनी का बोरा है जिसको उठाने के हम तुमसे पैसा लेंगे?" मेरी बात पर वह ठठाकर हंस पड़ा।

"तो जाओ, जल्दी...!" उसे खड़े देखकर कुछ देर बाद मैंने कहा।

पल्लेदार ने मेरे कहने को चुनौती समझा और फुर्ती से आगे बढ़ा। उसकी चाल पुराने अनुभवी की-सी थी और चेहरा ऐसे काम को चुटकी का खेल बनाने वाला। बाड़े के दक्षिणी छोर पर, लम्बाई से चौड़ाई की तरफ घेरे के मुड़न से जहां दो पट्टियों का कोना निकला हुआ था, पल्लेदार पल में पहुंचा और पलक झपकते उछलकर उसने कोने की पट्टी का ऊपरी छोर लपक लिया। मैं हतप्रभ देखता रहा, पल्लेदार लंगूर के लहजे में ऊपर चढ़कर बाड़े में कूद पड़ा। भीतर से उसकी आवाज सुनाई पड़ी, "अब पकड़ता हूं साले कुतवा का कान!"

मुझे अपने समूचे शरीर में एक झनकार-सी बजती जान पड़ी। बेसब्री से मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। मैं बेकाबू-सा, इधर-उधर, ऊपर-नीचे आंखें टिकाता, गर्दन लचकाता बाड़े के भीतर का चप्पा-चप्पा देखते रहना चाहता था। कीकर पहले जितने घेर-घुमेर और सघन न थे, परन्तु बाड़े के उघड़े अंग छिपाने के लिए आंचल के पल्लों से आड़े आ रहे थे। मुझे पल्लेदार या जैकी की कोई झलक मिलती, फिर वे कहीं ओझल हो जाते।

मैंने उसके हुलिये से ही उसका परिचय पा लिया था। बाजार में पल्लेदारी करने वाला बिहारी मजदूर था, जो मुझे स्थानीय सेठ-साहूकार का लाड़ला समझकर अदब से बात कर रहा था।

"कैसे ढूंढोगे?" मैंने पलटकर पूछा।

"बाड़े में जाकर, और कैसे?"

"तुम बाड़े में जा सकते हो?" मुझे उसकी सरलता पर विश्वास नहीं हो रहा था।

"क्यों नहीं... हम तो तुम्हारे कुत्ते को पकड़ भी लायें!" उसने उसी तरह कहा।

"मैं तुम्हें पांच रुपये दूंगा।"

"अच्छी कही बाबू... ई कुतवा कोनो चीनी का बोरा है जिसको उठाने के हम तुमसे पैसा लेंगे?" मेरी बात पर वह ठठाकर हंस पड़ा।

'तो जाओ, अन्दर...!" उसे खड़े देखकर कुछ देर बाद मैंने कहा।

८

पल्लेदार ने मेरे कहने को चुनौती समझा और फुर्ती से आगे बढ़ा। उसकी चाल पुराने अनुभवी की-सी थी और चेहरा ऐसे काम को चुटकी का खेल बनाने वाला। बाड़े के दक्षिणी छोर पर, लम्बाई से चौड़ाई की तरफ घेरे के मुड़ने से जहां दो पट्टियों का कोना निकला हुआ था, पल्लेदार पल में पहुंचा और पलक झपकते उछलकर उसने कोने की पट्टी का ऊपरी छोर लपक लिया। मैं हतप्रभ देखता रहा, पल्लेदार लंगूर के सहजे से ऊपर चढ़कर बाड़े में कूद पड़ा। भीतर से उसकी आवाज सुनाई पड़ी, 'अब पकड़ता हूं साले कुतवा का कान!"

मुझे अपने समूचे शरीर में एक झनकार-सी बजती जान पड़ी। बेचैनी से मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था। मैं बेकाबू-सा, इधर-उधर, ऊपर-नीचे आंखें टिकाता, गर्दन लचका-सा बाड़े के भीतर का चप्पा-चप्पा देखते रहना चाहता था। कीकर पहले जितने घेर-घुमेर और सघन न थे, परन्तु बाड़े के उपड़े अंग छिपने के लिए ओबर के पल्ला में आड़े आ रहे थे। मुझे पल्लेदार या कुत्ते की कोई झलक मिलती, फिर वे कहीं ओझल हो जाते।

बोला, "टाँगें पकडो न इसकी...तुम्हारा कुत्ता है, तुमको नही काटेगा कभी !"

मैं और आगे बढ आया और पलदार की पकड मे कसमसाते जैकी की कैंचीनुमा टाँगें पकड ली। कुछ देर मेरे हाथ टाँगो के साथ-साथ चले, फिर मैंने जोर लगाकर हरकत बंद कर डाली। मेरा हौमला धीरे-धीरे लय पर आने लगा था।

"उधर चलो, लेकर !" पलदार ने गली की तरफ इशारा किया। जैकी की गर्दन मे बाँह लपेटकर उसे उठाते हुए वह आगे-आगे चल पडा। मैं जैकी की टाँगें थामे-थामे पलदार के पीछे घिसटता हुआ सा जा रहा था। ऊबड-खाबड पार कर हम गली पर आ गए थे। गली और हमारे बीच पट्टियाँ थी, वही दम-फुटी जोधपुरी पट्टियाँ ! पलदार ने दो कदम पीछे धरकर अनुमान साधा और मुझसे बोला, "उछाल दो बाहर बिना मत करो, मरेगा नही कुत्ता।"

मैं अपनी राय पर पहुँचता, इससे पहले ही सब कुछ हो चुका था। पलदार ने अपनी मजबूत और फड़कती भुजाओं से जैकी को उछाल दिया था, मेरे हाथों से उसकी टाँगें झटके के साथ ही निकल गयी और अगले क्षण ही बाड़े के बाहर से उसकी पो-पो उभर आई।

उसकी पो-पो सुनकर पलदार जोर से हँसा और फिर हाथ झाड़ता बोला, "इतनी-सी बात अब ठीक है न ?"

मुझे उखड़ी हुई पट्टी याद आ गई। मैं तेजी से उधर बढ़ा—कहीं उसी रास्ते जैकी वापस बाड़े मे न घुस जाए ! पलदार मेरे पीछे-पीछे चल कर उखड़ी पट्टी के पास गली मे खड़ा हो गया था। मैं जैकी को देख रहा था, वह आसपास कही न था। शायद पलदार मेरी व्यग्रता भाँप रहा था, अचानक बोला, "वो देखो उधर ।"

मैंने मुडकर देखा, पिछले चौराहे बाद की लम्बी गली मे बदहवास होकर भागता हुआ जैकी आ रहा था। भागते-भागते वह झटका लेकर रुकता और जमीन पर नाक लगाकर फिर भागने लगता। मुझे उसकी इस निराली चाल पर हँसी आई। मै भी खुलकर हँस पड़ा, फिर पलदार से कहा, "यह पट्टी खड़ी कर दें ?"

भला जैकी को बाड़े में क्यों घसेलूंगा...तुमने इतना बड़ा काम किया है, यह खुशी की बात है। मैं उसका पूरा ध्यान रखूंगा कि वह फिर बाड़े की तरफ मुंह भी न उठाए!"

इसके बाद मैं रोज जैकी को देखने चला जाता था। जाते हुए उसके लिए सिंधियों की बेकरी से सूखे बिस्कुट खरीद ले जाता। कुछ दिन वह मुझसे सहमा-सहमा रहा, फिर बड़े चाव से मेरे दिए बिस्कुट खाने लगा। उसके साथ-साथ मैं उधर के दूसरे कुत्तों को भी बिस्कुट खिलाता। सब कुत्तों के बीच में खड़ा-खड़ा वह निर्भय होकर बिस्कुट खाने लगा, तो मुझे अपार खुशी हुई। मैं देख रहा था कि उसके फालतू डर की गाँठें धीरे-धीरे खुलती जा रही थीं और वह बाहरी दुनिया के साथ हेलमेल बढ़ाने लगा था।

यह समाचार कि मैं जैकी को बेकरी के बिस्कुट खिलाने जाता हूँ, शब्दसरणजी ने सविस्तार पिताजी तक पहुँचा दिया था। एक दिन मुझे बुलाकर उन्होंने सारी पूछताछ की। मैंने सकोचपूर्वक सारा किस्सा बयान किया, तो वे बोले, 'ऐसा करें, जैकी को तुम्हारे साथ होस्टल भेज दें। इतनी लगन दिखाओगे, तो तुम उसे कुत्ते से इसान बना डालोगे।"

मैं आँखें झुकाये बैठा था। पिताजी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर फिर कहा, "शाबाश!" मैं सुनकर गद्गद हो गया। सहसा मेरी रुलाई फूट पड़ी, और ठीक इसके पीछे मैंने मुस्कुरा दिया—एकदम उजली और निष्कलुष मुस्कान रही होगी वह, जो आज भी अपनी याद भर से गुदगुदा जाती है।

. ८

छुट्टियाँ खत्म हो गयी थीं। वक्त कैसे बीता, कुछ हिसाब ही नहीं रहा। मुझे जैकी को छोड़कर होस्टल चले जाना पड़ा। पहले कुछ दिन मैं बहुत अनमना-सा रहा। हर पल जैकी की याद सताती रहती। उसकी सोनलिया काया और उदास-उदास आँखें अलग-अलग भाव-मुद्राओं में मेरी आँखों में मँडराती रहती। मैं जब-तब घर पर चिट्ठी लिखने बैठ जाता। इस बार पिताजी मुझे जैकी के पूरे समाचार लिखते थे। शब्दसरणजी के

जाता था। मैं कद-काठी, चाल-ढाल, आवाज और पहनावे तक में बड़ा नज़र आने लगा था। स्कूल की बजाय मैं कॉलेज जाने लगा था। कॉलेज के एक ग्रुप के साथ ही मेरा उधर जाना हो रहा था—जैकी के कस्बे से लगभग किलोमीटर दूर जिला मुख्यालय। वहाँ कोई नाटकों की प्रतियोगिता थी, जिसमें मेरे कॉलेज के नाट्य-दल में मैं भी शामिल था। हमें वहाँ लगभग दस दिन ठहरना था।

चलते वक्त जैकी की याद का दूर-दूर तक भी कोई निशान न था। वहाँ पहुँचकर भी शुरू के चार-पाँच दिन हमारी प्रस्तुतियों ने हमें साँस तक न लेने दी। जैकी जैसे अभी तक केंचुल चढ़े साँप-सा बिना हिले-डुले भीतर पड़ा था। तभी हमें फुर्सत मिली। हमारी प्रस्तुतियाँ निपट चुकी थीं और हमें सिर्फ परिणामों की प्रतीक्षा थी। हममें से ही किसी ने 'धोरे' देखने की इच्छा प्रकट की थी। यही था वह इशारा! वह कस्बा, जिसमें मैंने जैकी के साथ अपने बचपन का एक मजेदार हिस्सा बिताया था, रेतीले टीबों के लिए खूब प्रसिद्ध था। कुछ बड़े होने पर मुझे फिल्मों के माध्यम से ही पता चला था कि उस बेरौनक कस्बे में भी एक प्रसिद्ध होने *जैसी चीज़ थी—कस्बे के एक छोर पर पसरे हुए सोने के भुरादे जैसी* पीली रेत के धोरे! फिल्मों में पर्दे पर देखे इन्हीं धोरों को जीते-जागते देखने की बात चली थी, कि मुझे अपने भीतर आँधी-सी उठती जान पड़ी। वह आरपार गलियों, हवेलियों, सेठ-सेठानियों और विशाल बाड़ों का कस्बा मुझे जैकी के मार्फत पुकार उठा। सबसे पहले जैकी और फिर शब्दचरणजी ने भी मुझे बुलाया। मैंने बढ़-चढ़कर 'धोरे' देखने की बात का समर्थन किया और इस पर आम सहमति हो गई।

बस से डेढ़ घंटे की यात्रा थी। मेरे अलावा सब पर स्वच्छंदता और मस्ती तारी थी। मैं चुपचाप बैठा हुआ बस की खिड़की से पीछे भागता कीकरियों का जंगल देख रहा था। मेरे पास बैठे साथी ने मुझे दो-तीन बार कोंचा कि कहाँ खो गया हूँ! मैं उसे क्या बताता? मैंने किसी को नहीं बताया था कि मैं इस जगह से परिचित हूँ—शायद इस डर से कि कहीं जैकी के बारे में कुछ मुँह से निकल न पड़े! मेरे साथियों के लिए जैकी का क्या मोल ठहरे, इसकी कल्पना ही दुश्वार थी। वे सब उस जगह के

पले-बढ़े थे, जहाँ मैंने कुत्तों को या तो लोगों के घरों में जंजीरों से बँधा देखा था, या फिर नाजुक-नफीस गोदियों में इठलाते! जैकी जैसे कुत्ते की जिन्दगी में उनकी दिलचस्पी जगाना, उन्हें अपने पर हँसने की दावत देना था। इसलिए मैं अपने में लीन चुपचाप बैठा था, और मेरी चुप्पी में जैसे मिसरी घुलती जा रही थी। इस मिसरी की डली का नाम था—जैकी!

इन चार बरसों ने जैकी पर क्या-क्या रंग चढ़ाये होंगे? वह मुझे पहचान तो लेगा? पूरी यात्रा में उसके सामने आनेवाले स्वरूप की कई-कई कल्पनाएँ मेरे मन को आच्छादित किये रहीं। रास्ता जैसे छोटा होने की बजाय लम्बा होता जा रहा था। जिस पल जाकर मैं जैकी के सामने खड़ा होऊँगा, इसी मिठास भरी व्याकुलता से मैंने सबके साथ अकेले यात्रा पूरी की।

मेरे साथी बस से उतरते ही 'घोरो' का रस्ता ढूँढने लगे। उनकी पूछताछ से खिंचकर ताँगेवाले दौड़े आए और एक प्रकार की अफरा-तफरी मचने लगी। हर एक ताँगेवाला अलग-अलग ढंग से उन्हें लुभाना चाहता था कि गाँव की सीमा तक वे उसके ताँगे में चले चलें। मुझे मौका मिल गया और मैं चुपचाप वहाँ से सरक लिया। मेरे कदम कस्बे का चप्पा-चप्पा पहचानते थे, छोटे-से-छोटा रास्ता चुनकर वे मुझे वहीं ले पहुँचे—जैकी के बाड़े! बाड़ा ज्यों-का-त्यों मुँह बाए-सा मौजूद था। मैंने चौकर नजर पसारकर देखा, जैकी शायद कहीं नजर आ जाए। हल्का-सा संशय मन में जन्मा कि मैं उसे पहचानने से न चूक जाऊँ! परन्तु तत्काल ही अन्दर से आवाज आई—नहीं! जैकी कहीं होता, तो नजर आता। आखिर मैंने शब्दशरणजी का दरवाजा खटखटाया।

शब्दशरणजी हर भाँति जहाँ के तहाँ बने हुए थे। अलबत्ता उनकी पॉलिश बीतते बरसों खुरच डाली थी। उनके मीठे तेल से सने रहनेवाले बालों में से सफेदी बढ़-चढ़कर ताक-झाँक कर रही थी। मैंने अपने अचानक चले आने के बारे में सविस्तार बताकर वजन इस पर रखा कि मैं उन्हीं से मिलने चला आया हूँ, तो वे भाव-विभोर दीखने लगे। मेरे पिताजी के दबदबे की लाश मानो फिर से उनके कंधों पर उतर आई। वे पिताजी को

पुरी तरह याद करने लगे। बात-बेबात खिलखिलाने की उनकी आदत भी यथावत थी, जिससे कोतर ग्यारा हुआ मैं असल बात का इन्तजार करने लगा। आश्चर्य की बात थी कि उन्होंने मेरी अथाह ललक पर कोई ध्यान नहीं दिया; जैकी के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा। मुझसे रहा नहीं गया और बरबस मैंने पूछा, "वह कैसा है, जैकी ?"

"जैकी ?" अपने ललाट में बल डालते हुए उन्होंने याद करने वाली मुद्रा में कहा, "वह बाड़े का कुत्ता ?"

"हाँ, जिसे मैंने बाड़े से बाहर...।"

मेरा वाक्य पूरा होने से पहले ही शब्दशरणजी चिहुंक पड़े, "अरे हाँ, याद आ गया.. लेकिन जैकी तो कभी का मर चुका !"

"नहीं.. !" मेरे मुंह से बेसाख्ता निकल पड़ा।

"हाँ, भई !" वे क्रमश किस्म की तटस्थता धारण किये हुए बोलने लगे, "उसे मरे तो बहुत दिन हो गये।"

"कैसे मरा ? किसने मार डाला उसे ?" पूछते हुए जैसे मेरी जीभ में ऐंठन हुई।

"एक ट्रक ने।" वे बताने लगे, "लेकिन जैकी खुले में मरा, बाड़े में नहीं। उसे जरूर किसी की नजर लग गई होगी, कैसा प्यारा कुत्ता था। तुम्हें शायद पता नहीं, वह किसी एक गली का कुत्ता नहीं था। पूरा कस्बा उसका अपना था। नहीं तो वह वहाँ कैसे पहुँचता ? बाजार से चार गली बाद कृषि मण्डी वालों की बाई-पास सड़क है न, वहीं। देखनेवालों ने बताया कि जैकी की कोई गलती नहीं थी, वह सड़क के किनारे अपनी मौज में चल रहा था। पीछे से लड़खड़ाती ट्रक आई और उसे बचते-बचते भी चपेट में ले लिया। ड्राइवर नशे में धुत्त था, जैकी को कुचलकर खुद भी मारा गया। ट्रक सड़क में पलटा खाकर माचिस की डिबिया की तरह लुढ़की पड़ी थी। मुझे क्या पता लगता, अगर बच्चे आकर नहीं बताते। मैं खुद वहाँ गया था। जैकी का पिछला हिस्सा तो सड़क पर छितरा पड़ा था, लेकिन मुंह एकदम सलामत था। मरने के बावजूद उसकी आँखें खुली थीं। मैंने उसे तुरन्त पहचान लिया कि अपना जैकी ही है..।"

बोलते-बोलते शब्दशरणजी निःशब्द हो गये। कुछ देर मुझे घूरकर

पले-बढ़े थे, जहाँ मैंने कुत्तों को या तो लोगों के घरों में जंजीरों से बँधा देखा था, या फिर नाजुक-नफीस गोदियों में इठलाते! जैकी जैसे कुत्तों की जिन्दगी में उनकी दिलचस्पी जगाना, उन्हें अपने पर हँसने की दावत देना था। इसलिए मैं अपने में लीन चुपचाप बैठा था, और मेरी धुनों में जैसे मिसरी घुलती जा रही थी। इस मिसरी की डली का नाम था—जैकी!

इन चार बरसों ने जैकी पर क्या-क्या रंग चढ़ाये होंगे? वह मुझे पहचान तो लेगा? पूरी यात्रा में उसके सामने आनेवाले स्वरूप की कई-कई कल्पनाएँ मेरे मन को आच्छादित किये रहीं। रास्ता जैसे छोटा होने की बजाय लम्बा होता जा रहा था। किस पल जाकर मैं जैकी के सामने खड़ा होऊँगा, इसी मिठास भरी व्याकुलता से मैंने सबके साथ अकेले यात्रा पूरी की।

मेरे साथी बस से उतरते ही 'घोरो' का रस्ता ढूँढने लगे। उनकी पूछताछ से खिंचकर ताँगेवाले दौड़े आए और एक प्रकार की अफरा-तफरी मचने लगी। हर एक ताँगेवाला अलग-अलग ढंग से उन्हें लुभाना चाहता था कि गाँव की सीमा तक वे उसके ताँगे में चले चलें। मुझे मौका-सा लगा और मैं चुपचाप वहाँ से सरक लिया। मेरे कदम कस्बे का चप्पा-चप्पा पहचानते थे, छोटे-से-छोटा रास्ता चुनकर वे मुझे वहीं ले पहुँचे—जैकी के बाड़े! बाड़ा ज्यों-का-त्यों मुँह बाए-सा मौजूद था। मैंने चौतरफ नजर पसारकर देखा, जैकी शायद कहीं नजर आ जाए। हल्का-सा संशय मन में जन्मा कि मैं उसे पहचानने से न चूक जाऊँ! परन्तु तत्काल ही अन्दर से आवाज आई—नहीं! जैकी यहीं होता, तो नजर आता। आखिर मैंने ठक्करशरणजी का दरवाजा खटखटाया।

ठक्करशरणजी हर भाँति जहाँ के तहाँ बने हुए थे। अलबत्ता उनकी दौलत बीतने बरसों गुरबत छायी थी। उनके मोटे तेल से सने कुर्ते के हाथों में से मक्खियाँ चढ़-चढ़कर नाच-कूद कर रही थीं। मैंने अपने अचानक चले आने के बारे में सविस्तार बताकर वजन इस पर रखा कि मैं उन्हीं से मिलने चला आया हूँ, तो वे भाव-विभोर दीखने लगे। मेरे पिताजी के दर्द की याद मानो फिर से उनके चेहरे पर उतर आई। वे पिताजी के

बुरी तरह याद करने लगे। बात-बेबात खिलखिलाने की उनकी आदत भी यथावत थी, जिससे कोफ्त खाता हुआ मैं असल बात का इन्तजार करने लगा। आश्चर्य की बात थी कि उन्होंने मेरी अथाह ललक पर कोई ध्यान नहीं दिया; जैकी के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा। मुझसे रहा नहीं गया और बरबस मैंने पूछा, "वह कैसा है, जैकी?"

"जैकी?" अपने ललाट में बल डालते हुए उन्होंने याद करने वाली मुद्रा में कहा, "वह बाड़े का कुत्ता?"

"हाँ, जिसे मैंने बाड़े से बाहर ...।"

मेरा वाक्य पूरा होने से पहले ही शब्दशरणजी चिहुँक पड़े, "अरे हाँ, याद आ गया.. लेकिन जैकी तो कभी का मर चुका!"

"नहीं..!" मेरे मुँह से बेसाख्ता निकल पड़ा।

"हाँ, भई!" वे तमाम किस्म की तटस्थता धारण किये हुए बोलने लगे, "उसे मरे तो बहुत दिन हो गये।"

"कैसे मरा? किसने मार डाला उसे?" पूछते हुए जैसे मेरी जीभ में ऐंठन हुई।

"एक ट्रक ने।" वे बताने लगे, "लेकिन जैकी खुले में मरा, बाड़े में नहीं। उसे जरूर किसी की नजर लग गई होगी, कैसा प्यारा कुत्ता था। तुम्हें शायद पता नहीं, वह किसी एक शख्स का कुत्ता नहीं था। पूरा कस्बा उसका अपना था। नहीं तो वह वहाँ कैसे पहुँचता? बाजार से चार गली बाद कृषि मण्डी वालों की बाई-पास सड़क है न, वहीं। देखनेवालों ने बताया कि जैकी की कोई गलती नहीं थी, वह सड़क के किनारे अपनी मौज से जा रहा था। पीछे से खड़खड़ाती ट्रक आई और उसे बचते-बचते भी चपेट में ले लिया। ड्राइवर नशे में धुत था, जैकी को कुचलकर खुद भी मारा गया। ट्रक सड़क में पलटा खाकर माचिस की डिबिया की तरह पड़ी थी। मुझे क्या पता लगता, अगर बच्चे आकर नहीं बताते। मैं खुद वहाँ गया था। जैकी का पिछला हिस्सा तो सड़क पर छितरा पड़ा था, लेकिन मुँह एकदम सलामत था। मरने के बावजूद उसकी आँखें खुली थीं। मैंने उसे तुरन्त पहचान लिया कि अपना जैकी ही है...।"

बोलते-बोलते शब्दशरणजी निःशब्द हो गये। कुछ देर मुझे घूरकर

देखते रहे, फिर सहमकर पूछा, "तुम रो क्यों रहे हो?"

मेरे पास इसका कोई जवाब न था। हां, मैंने खुद जाना कि मेरी आंखों पर पानी की चादर चल चुकी है। दोनों आंखें हथेलियों से पोंछकर मैं शब्दशरणजी की आंखों में झांकने लगा। पल भर में ही मुझे अपना इच्छित दृश्य नजर आया—सड़क की सतह से एकमेक जैंबी की लाश! पूरा धड़ खून से लिपटा हुआ, मगर उसका प्यारा मुखड़ा ऊपर उठा हुआ था, मेरी तरफ! मैं शब्दशरणजी की आंखों के पार, जैंबी की आंखों में झांकने लगा था। वे भोली आंखें आज याचना से नहीं, कृतज्ञता से भरी थीं। भला जैंबी मेरे किस उपकार के लिए कृतज्ञता जतला रहा था? छुटपन से लेकर आज तक मैं न जाने कितनी बार इस जिज्ञासा के अछोर समुद्र में तैरता-उतराता रहा हूं, शायद कभी कोई मोती हाथ लगेगा!

विरासत

मदजी थे, ठीक मदजी। अपनी मदैव की पुर्नीनी चाल चलते हुए उन्होंने रोड-लाइट का दायरा पार किया, तो मैं अच्छी तरह पहचान गया। जैसे कि अधिकांश लोग करते हैं। ममखरी करने के लिए ही मैंने उन्हें पुकार-कर पूछा, "कैसे मदजी, अब रात को ?"

"कुण कीरा ?" रुकते और मेरी ओर मुड़ते-मुड़ते उन्होंने अपनी हथेली को आँखों पर छज्जे की शक्ल में ठहराकर पूछा। रात और वह भी सर्दी की रात। घुप छोड़, रोड-लाइट का भी कोई बेहिसाब उजाम नहीं कि आँखों को खले। पर मदजी की किमी बात में तर्क ढूँढ़ने का कष्ट तो कस्बे की पुलिस ही नहीं करती, तो मैं क्यों करता। कुछ करीब जाकर मैं जैसे उनके इस छज्जे की जद में पहुँचा और बोला, "पहचाना नहीं ?"

"नहीं बीरा !"

"यह तो मैं हूँ, सज्जन।" मैंने नाम बताया।

"जैमल का छोरा ?"

"हाँ..." मैंने हामल भरी।

और मदजी मेरे और करीब सरक आये, "रात को जल्दी घर जाया करो, बीरा! तुम्हें पता नहीं, लाठियाँ चल गईं, तलवारें निकल आईं. . खून खराबा हुआ...अब कोई भरोसा नहीं...!" आखिरी वाक्य तक पहुँचते-पहुँचते उनकी आवाज फुसफुसाहट में तब्दील हो गई और आवाज के साथ ही एक कँपकँपी किसी अनजानी ठौर से उभर आई।

"कहाँ ? कब ?" मैंने चौंककर पूछा।

"कहाँ ? कब ?" उनकी आवाज फिर ऊँची हो आई और लगा कि

था। मैं मुँह-पहचाने दो ग्राहकों के लिए पान लगा रहा था और साथ ही उनसे बातें भी कर रहा था, तभी उत्तर की ओर प्याऊ के पास तीखा शोर सुनाई पड़ा। सब निगाहें एक साथ मुड़ीं। मदजी कभी दायाँ तो कभी बायाँ हाथ जमीन की ओर झटक-झटककर मुँह-छूट गालियाँ बकते, अपने नंगे पैरों कूदते-से आ रहे थे और पीछे तीन-चार बाल-गोपाल। मैं मदजी को जानता तो था, पर उनका यह रूप पहली बार देख रहा था। शायद सबसे ज्यादा भौंचक मैं ही था। मेरी भागती निगाहों-तले जितने चेहरे आये, मैंने सबको देखा होगा और लगा होगा कि सब चेहरों पर मदजी की इस हालत से जन्मा कौतुक-रस विराज रहा था।

मैं हड़बड़ा-सा गया।

मदजी का चेहरा ही नहीं, जैसे उनका अंग-प्रत्यंग धनुष-कमान की तरह खिंचा जा रहा था और उन्होंने अपने पेट का समूचा जोर गले में ठेल रखा था। जरा-सी देर में वे पीपल-गट्टे पर चढ़ गये। एक बार चुप हुए। उनकी नाक खिंचकर जैसे ऊपर हो गई। चुप होकर उन्होंने नाक को और ऊपर खींचा और गट्टे की गोलाई में फुर्ती से चक्कर पूरा किया, फिर ठीक मेरे सामने आकर थम गये। मैंने गौर किया कि उनकी रोसाई आँख मेरे चेहरे पर ठहरी हुई है। उन्होंने मुँह ऊँचा उठाया और बोलने लगे, "मर गये, सब मर गये हैं...कोई जिन्दा नहीं। कुत्ते स्साले...यह थानेदार दिनभर थाने की कुर्सी गन्दी करता है...स्कूल में दारू की भट्टी है, उसे मेरा बाप बरामद करेगा?"

मदजी फिर कुछ देर चुप रहे। सर्प के फन की तरह अपनी गर्दन को डुलाया : मैंने देखा, अब कई चेहरों पर से वह कौतुक-रस लोप हो गया और वहाँ अचम्भे और दुःख की छाया मँडराने लगी।

पीछे से एक बालक गट्टे पर चढ़ा और मदजी के कमीज को झटककर फिर उतर भागा।

'जान से मार दूंगा...ठहरो साद...!" कहकर मदजी गट्टे से कूद पड़े और उसी तरह हाथ झटकते, कुलाचें भरते बाहर हो गये।

बाजार में आई हलचल कुछ देर और नहीं थमी।

लोग मुसकाते-मुसकाते अपने धंधों में उलझने लगे।

मेरे अनजान होने पर वे रौब में आ रहे हैं, "स्टेशन के रास्ते में, और कहां ?"

"किसलिए ?"

"किसलिए का मुझे नहीं पता ...पर मैं क्या कभी झूठ बोलता हूं!" कहकर उन्होंने अपने हाथ को अपनी खास अदा में झटकाया और चल पड़े। मैंने दो-तीन बार पुकारा, पर वे कहां सुनने लगे!

मैं जबसे सयाना हुआ हूँ, मैंने मदजी को बावरा ही देखा है। पर मैं अभी तक यह तय नहीं कर पाया हूँ कि वे क्या सचमुच बावरे हैं और हैं तो कहां से ? उनके अतीत के नाम पर अलग-अलग मुंहों से अलग-अलग किस्से सुने हैं। सबसे पहले तो अपने मां-बापू से ही सुना कि मदजी के भाइयों ने धन के लोभ में आकर इन पर किसी बंगाली तांत्रिक से टोना करवाकर इनकी यह गत बना दी। कहीं से सुना कि इनका बेटा ट्रक की चपेट में आकर मरा, तबसे इनका चित्त बेकाबू होकर पटरी से उतर गया। और भी कई किस्से जो सब याद ही नहीं रह सके।

जो हो, एक तरह से कह सकता हूँ कि मेरा और मदजी का पूरा दिन प्राय: साथ-साथ ही व्यतीत होता है। मैं इस कस्बे के कस्बाई बाजार में उसी पीपल के सामने पान-बीड़ी की दूकान लगाता हूँ, जिसके गट्टे पर बैठकर लोगों के अनुसार मदजी अपनी 'गूंग' (बावरापन) बिखेरते हैं। मुझे भी सचमुच कई बार लगता है कि इस पीपल में किसी जिन्न या प्रेत का वास है, जो इसके नीचे आते ही मदजी पर सवार हो जाता है और वे चारों दिशाओं में आग फेंकने लगते हैं। मेरे सामने यह सिलसिला उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मेरी दूकानदारी।

मुझे दूकान लगाये दो दिन ही हुए होंगे कि मैंने पहले पीपल-गट्टे पर प्रकट होते देखा।

शाम हो गई थी। आस-पड़ोस की जलाई जा रही थी और सीलनखाई लक घुमड़ रहा था। पूरे दिन

"बोला नहीं...कुन है ?"

"मदजी !" मैंने जवाब दिया, "यह तो मैं हूँ, सज्जन...पहचान लिया ?"

"हाँ-हाँ...पहचान लिया...।" आवाज के साथ-साथ अंधेरे में से मदजी सरकते हुए आ गये। मुझे अचम्भा हुआ...भर दोपहरी में घूर-घूरकर देखनेवाले मदजी आज फकत एक बार बोलते ही पहचान कैसे गये।

"अब, घर ?" मदजी करीब आकर बोले।

"हाँ, मैं तो घर जा रहा हूँ, पर आप इस ठंड और अंधेरे में ?"

"सेठों की हवेली की हिफाजत..." उनके बोलने से मुझे लगा कि अंधेरे में अदृश्य उनके चेहरे पर व्यंग्य की तकीरें जरूर खिंची होगी।

"क्यों, आपका यहाँ क्या धरा है ?" मैंने मजाक करने भर को पूछा, "या सेठ ने इस चौकीदारी की तनख्वाह बाँध दी ?"

उन्होंने मजाक पर बिलकुल गौर नहीं किया और फिर पूछा, "तू है तो सज्जन ही ?"

"हाँ...कम से कम एक तो वही हूँ...?"

"तो चल, मेरे घर..."

मैं इस प्रस्ताव से चौंक पड़ा।

यह आज कौन-सा नया बावरापन है ?

मदजी का घर...वह मुझसे छिपा नहीं है। मुझसे क्या, सभी जानते हैं कि प्रभुदयाल मिडिल स्कूल से सटा हुआ, ढहकर खंडहर हो चुका और चारों कोनों चौपट मदजी का घर ही है। लोग कहते हैं, भाइयों की हिस्सेदारी बँटी तो मदजी के हिस्से यही घर आया। इसके ढहने के अंतिम सिलसिले का तो मैं भी साक्षी हूँ। लोग इसे सौ बरस पुराना बताते हैं। कहते हैं, इस कस्बे को जिस साल पास की रियासत के राजा ने अपने नाम पर बसाया, उसी साल यह हवेली मदजी के पुरखों ने यहाँ बनवाई। इस हवेली के ढमढेर में बचीखुची किसी छत के नीचे मदजी अपने पूर-पल्ले रखते हैं और मन की किसी तरंग में यहाँ स्नान और रोटी-पानी भी करते हैं। पर मुझे अपनी इस हवेली में, जिसके पास फटकने से सौएँ अपने

साडलो को इसीलिए बरजती है कि कोई पत्थर न आ पड़े, मदजी इ
ठंडी-अँधेरी रात मे किसलिए न्योत रहे हैं ?

मेरे मन मे आया कि मदजी कोई बड़ा भेद मुझे वहाँ ले-जाकर जरू
बतायेंगे, पर उनके घर का हुलिया याद आते ही हिम्मत पस्त होने लगी।
बोला, "देर बहुत हो गयी...माँ बाट जोह रही होगी। फिर किसी दि
जरूर चलूंगा...।"

"वा वीरा...कोई बात नही। माँ जरूर बाट जोह रही होगी। जल्दी
जा...।" मदजी की आवाज़ डूबती-सी निकली, तो उनकी निराशा छिपी
नही।

मन तो हुआ कि पलटकर कहूँ—चलो, पर पलभर मे ही मदजी
अँधेरे मे समा गये थे।

और सुबह ही मदजी पीपल तले पहुँचे।

उन्हें देखते ही, उनका रात का न्योता मुझे याद आया। मुझे लगा
कि मदजी मुझसे नाराज हैं। वे कुछ देर पीपल-गट्टे पर शांत और पैर
लटकाये बैठे रहे। मेरा मन कुछ अनमना हुआ। पर जल्दी ही मैं दूकान-
दारी मे खो गया। मुझे याद नही रहा कि मद जी वही बैठे हैं कि चले
गये...तभी वह चिरपरिचित तीखा शोर! प्रेत पीपल से उतर आया
था...मदजी बुरी तरह हाँफ रहे थे और ऊँचे सुर में बोले जा रहे थे,
"झूठ...सफा झूठ...ये धरमशालाएँ झूठ, ये औषधालय झूठ...ये सन्त
भवन झूठ...यह हरामखोर सेठ अपने नौकरो का खून चूसता है, उनकी
लाचारी से खेलता है। हाँ...यही सेठ कानदान...रात को अपनी पोती
की एकदम मादरजात छाती से चेपकर सोता है...भेण ऽ ...बस, छाती से
चेप ले, तेरे से होता क्या है ?"

मदजी एक बार चुप हुए। चौफेर गर्दन घुमाकर देखा और देखकर
कि सब सुन रहे हैं, फिर शुरू, "अहिंसा का पुजारी है यह...जानते हो
इसका धंधा क्या है ? मांस बेचता है...गाय का मांस, सूअर का मांस
और कुत्ते का मास...मिलिट्री को मांस-सप्लाई का ठेका और अहिंसा
परम-धरम...उसमें भी मिलावट...कुत्ते का मांस भी सप्लाई मे...यही
सेठ कानदान...।"

मदजी के गले की शिराएँ उभर आईं। ललाट पर खिंचाव और ीना...गट्टे पर खड़े-खड़े ही पहलू बदला और बोलते गये, "खा गये री दुनिया...हजम इनके पेट में...फाड़ो इनका पेट...जाने कितना ोना-चाँदी और सेन-पट्टे निकलेंगे...।"

मदजी पता नहीं क्या-क्या बोलते, तभी पहलवानी डील-डौल वाला ठे-बदन आदमी कहीं से निकलकर आया और गट्टे पर चढ़ गया। उसकी खों में सीरे (अंगारे) उछल रहे थे। उसने अपना चौड़ा पंजा मदजी ी गर्दन पर गड़ाया और उन्हें नीचे धकेल दिया। मदजी सीधे जमीन र ठहरे। उठने को सँभलते मदजी कि उसने उतरकर एक पूरे हाथ की मा दी। इतने में गल्लेवाले केसरीजी भागे। मैं तो जैसे अपनी ठौर ही चिपककर रह गया।

आज से पहले मदजी को पिटते कभी नहीं देखा था। पीटने वाले का डील-डौल देखकर मैंने सोचा कि अब मदजी में कुछ बचा भी है, या नहीं! केसरीजी ने पहुँचकर उसे एक तरफ किया कि मदजी उठ खड़े हुए, "मार.. मार...जितना जोर है, आजमा मुझ पर. .जानता हूँ, तू सुबह से मेरे पीछे घूम रहा है...तू अपने सेठ की नमक-हलाली कर, पर वह तुझे भी नहीं छोड़ेगा ।"

वह केसरीजी और दूसरों के रोके रुका था। पर उसकी आँखें अब भी गुस्से से बाहर निकल रही थीं।

"कौन है तू ?" किसी ने आखिर उससे पूछ ही लिया।

"यह तो बावरा है इसकी बकवास से क्या होना है कोई नहीं सुनता ..।" केसरीजी ने शायद उसे पहचान लिया था और उसे [illegible] देने लगे।

मदजी कुछ देर खड़े खड़े हाँफते और बोलते रहे, फिर चप्पल ढूँढ़ने के लिए झुके और मुँह ही मुँह में बड़बड़ाते हुए एक ओर चले गये।

"नहीं, ठीक था, दो-चार दफ़ आनी तो दिमाग कुछ ठिकाने [illegible] ।" कंघियों और [illegible] के [illegible] लगानेवाला शिवनौरंग [illegible]। वह शिवनौरंग इसी पीपल की छाया में अपना बकसा लेकर बैठता और मदजी के प्रेम में सबसे ज्यादा [illegible] जाता। मदजी के [illegible] [illegible] कुछ [illegible]

हो, यह अपना धंधा छोड़कर किनारे हो जाता और उनके लौटने पर ही लौटता।

"इस किराड (बनिये) की यह हिम्मत...गाँव के गूगों-बावरों के पीछे अपने लठैत लगाता है...यह तो केशरोजी ने बरज दिया, नहीं तो देख लेते उस मुस्टंडे को...।" मूंज-बाँस वाले ओमजी अभी बड़बड़ा रहे थे।

एक बात है...यह मदिया खबर लाता है, उसमें कुछ न कुछ तत तो होता है...।" बूढ़े प्रेमसुखजी बोले।

"तत हो या पंत...किसी के घर में झांकना किससे बरदाश्त होता है...तुम हम से भी नहीं होता...सच कहूँ...।" प्रेमसुखजी के जोश पर इस अनुत्साहजनक उत्तर से पानी पड़ गया। दोनों साथ-साथ मेरी दुकान आ पहुँचे। प्रेमसुखजी को दिनभर पान चरने की आदत।

बाजार धीरे-धीरे अपने में लौटने लगा।

कोई दस दिन हो गये, मैंने मदजी को नहीं देखा। शायद ही कोई, मुझे छोड़, उनको याद कर रहा था। हाँ, सिक्लीगर निश्चितता से अपना पहिया घुमाता, उससे कैंचियाँ-उस्तरे रगड़-रगड़कर चिनगारियाँ उछालता अपने अल्ला का शुक्र मनाता होगा।

मेरे तो मदजी के लिए पूछने को बात होठों तक आ-आकर छूटने लगी। पूछा किसी से नहीं गया। पता नहीं क्या सकोच था? शायद यही रहा हो कि इस गूंगे-बावरे में फालतू दिलचस्पी दिखाना, कोई समझदारी की बात नहीं मानी जायेगी। फिर अगर मदजी का पूछूं, तो कस्बे में और भी दो-चार गूंगे-बावरे हैं, उनकी मुझे क्यों फिक्र नहीं?

मन में बात उठती और दब जाती।

आखिर मुझे लगने लगा कि बाजार मदजी के बिना सूना-सूना हो गया है।

मुझे किस्म-किस्म के अनुमान होने लगे। क्या पता, सेठ बानदानजी ने अपने लठैतों से मदजी को सम्वा न करवा दिया हो! सेठजी के हाथ

बहुत लम्बे हैं। एक प्रान्तीय मंत्री तो उनका सगा-संबंधी है। उनकी साख और उनके दबदबे को भरे-बाजार चुनौती देना कोई आसान काम है ?

जो हो, मदजी को याद करते-करते बेचैनी बढ़ती ही गई। मैंने निश्चय किया कि मैं आज उनकी खबर लेने उनके घर जाऊँगा। कम से कम वहाँ तक तो मैं जा ही सकता हूँ।

दिन की आखिरी चमक बची हुई थी कि मैं अपनी दुकान समेटने लगा।

"कैसे मज्जन, आज जल्दी ही ?" पान खाने को पहुँचे 'क्लोथ स्टोर' वाले नन्दू ने पूछा।

"हाँ, आज घर पर थोड़ा काम है।"

"पान तो खिलाकर जा...।"

मैंने सोचा कि इस एक को तो हाथ का उत्तर दे ही दूँ, पर तुरन्त ही मेरी आँखों के आगे मदजी के घर का अंधेरा और उनके ठिकाने तक पहुँचने के मार्ग की कठिनाइयाँ घूम गईं। सूरज तर-तर डूबता जा रहा था। मैंने मन पक्का किया और मुकर गया, "नहीं यार, बापू की तबियत कुछ ठीक नहीं...।"

फिर वह कुछ नहीं बोला।

मेरे पैर यों उठने लगे, जैसे मैं सचमुच ही अपने बापू की तबियत की चिन्ता में घर जा रहा होऊँ!

सूरज शायद धरती के किनारे आज अपनी आखिरी साँसें ले रहा था।

मदजी के घर तक पहुँचा, तो सन्नाटा पूरी तौर पर नहीं खिंचा था। एकाध औरत अपने घर के आगे बैठी बर्तन मांज रही थी और दो-तीन बच्चों ने कोई 'रम्मत' मांड रखी थी।

मैंने देखा, अंधेरा अब सब कुछ लीलने ही वाला है, पर फिर भी संकोच मुझ पर हावी होने लगा। देखनेवाले क्या सोचेंगे? इसको इस गूँगे-बावरे से कौन-सा 'कमतर' पड़ा है? पर मैंने सोचा कि अंधेरे के घिरने तक देर बहुत हो जायेगी और संकोच को परे धकेलते हुए मैंने मदजी के घर की बिखरी हुई सीमा में पैर बढ़ा दिया।

बीच में खाली जमीन थी, जिसमे खड्डों के साथ-साथ नाम-बेनाम वंटे और घास उगी हुई थी। जिसे एक शब्द मे 'अलसेट' कहा जाये। कुछ परे एक दीवार रामभरोसे-सी खड़ी थी, जिसकी बिना दरवाजे की चौखट मे से ढहे हुए आसरो का मलवा पड़ा दीख रहा था।

मैंने चोर की मानिंद धीरे-से चौखट मे मुँह डाला। दायी तरफ एक सावत आसरा दीख पड़ा। इसकी झुकी हुई चौखट का एक दरवाजा अधढका पड़ा था।

मैंने चौखट तक जाकर हल्के-से आवाज दी, "मदजी...ओमदजी!"

कोई जवाब नही आया।

पर जाने कैसे मुझे भरोसा हो गया कि मदजी अन्दर हैं। मैंने दरवाजे की जग खाई कड़ी को हल्के-से बजाया। मुंह दरवाजे के करीब झांककर आवाज लगाई, "मदजी !"

दो-तीन वार पुकारने पर अन्दर से दबी-दबी आवाज आई, "कुण है, बीरा ?"

"मदजी, खोलो...मैं सज्जन हूँ...।" मैं थोड़ा ऊँचा बोला।

और जैसे कोई करंट दौड गया हो, पलभर मे ही दरवाजे के पल्ले चीख पड़े और आसरे के अँधेरे मे मेरे सामने खड़े मदजी को मैं उनकी स्याई छबि के कोणो से पहचान गया।

अब अँधेरा पूरी तौर पर घिर आया। जैसे एकमुश्त ही...मदजी के घर का सन्नाटा घना हो गया।

"सज्जन बीरा !" मदजी कुछ पल ठहरकर बोले।

मुझे राहत मिली कि उन्होने पहचान तो लिया। इत्ते में वे फिर बोले, "आ बीरा...अन्दर आ जा !"

"पर मदजी...।" मैं बोला।

"अँधेरा है...अँधेरे में डर लगता है न ?" बोलकर मदजी चौखट से बाहर निकल आये। फिर बोले, "एक बार ठहर...मैं अभी उजास करता हूँ।"

मुझे लगा कि मैं कहाँ फँस गया !

मदजी को जीता-जागता देखते ही, मुझमें उनको लेकर जन्मी बेचैनी

पलभर में काफूर हो गई। इसकी ठौर इस माहौल से जन्मी अमूर्त समा गई।

मैं सोचने लगा, यह मदजी क्या आदमी है? अब ढहे-अब ढहे ऐसे आसरे में निर्भय होकर कैसे बैठा रहता है? और भी सवाल उठने लगे कि पता नहीं किस ढंग से एक लालटेन उठाए मदजी लौट आए। अंधेरे में अनेक क्रिया-कलापों का अनुमान करता रहा। शायद उन्होंने लालटेन का कांच उतारा और उसकी पुरानी कालिख अपनी धोती के छोर से छुड़ाई, फिर लालटेन के पेंदे को हिलाकर देखा कि अन्दर तेल बजता है या नहीं? तेल जरूर था, क्योंकि उन्होंने कहीं से दियासलाई निकाली और घिसकर बत्ती जला दी।

एक पीला उजास उस श्मशानी माहौल को उजागर करके और मनहूसियत फैलाने लगा।

मदजी ने निश्चितता से लौ को सम किया और कांच लगाकर लालटेन हाथ में लटका ली।

उजास में मैंने मदजी को गौर से देखा। धोती सदैव की तरह मैली-कुचैली और बेतरतीब लपेटी हुई, पर वैसे ही अधपटे कुर्ते की ठौर आज वे नंगे-बदन थे। बाहर तीखी ठण्डी हवा चल रही थी। यहाँ चाहे फूटी ही सही, दीवारों की ओट थी तब भी, ठण्ड तो आखिर ठण्ड थी।

मेरी निगाह मदजी के चेहरे पर पड़कर ठहर गई। लालटेन के पीले उजास में मैंने देखा, उनके एक गाल पर सप्ताह-दस दिन पुरानी खिचड़ी दाढ़ी, दूसरे पर ठौर-ठौर लूटे हुए गुच्छों के बावजूद सुर्खी हुई। मदजी का चेहरा इस तरह बड़ा अजीब हो गया था। कहाँ आए हो—इबादत!

"आ, अब चला आ!" कहकर मदजी ने लालटेन ऊपर की और पहले खुद आसरे में घुसे और फिर पलटकर मुझे रास्ता दिखाने लगे।

मैं अब भी पसोपेश में था। मदजी के घर का अस्तव्यस्त ढेर मेरी छाती पर चढ़ बैठा। मेरे पैर नहीं उठे। आखिर मैं फिर घुमाने की गरज से बोला, "नहीं, अन्दर नहीं आऊँगा, देरी बहुत हो चुकी।"

"क्यों?" मदजी की आवाज फिर पहले की तरह हुदके-हुदक की हुई, "अब अँधेरा नहीं है, उजास में भी डर लगता है क्या?"

"नहीं, डर की तो कोई बात नहीं...मैं तो फकत देखने आया था।" मेरे मुंह से जैसे बिना विचारे ही निकल पड़ा।

"देखने ! क्या देखने ?" मदजी ने पूछा।

"आपको इतने दिनों से नहीं देखा, इसलिए...।" मेरी छाती पर बढ़ता बोझ इस बात से कुछ हलका होता जान पड़ा।

मदजी फिर कुछ पूछें, इससे पहले मैंने ही पूछना मुनासिब समझा, "क्या बात हुई, मदजी...कोई मांदगी (बीमारी) थी क्या ?"

"तू अन्दर तो आ पहले, बीरा...बाहर खड़े-खड़े ही सब पूछ लेगा क्या ?" मदजी इतनी नरमाई से बोले कि एक अजब-सी लाचारगी का अहसास मुझे झकझोर गया।

मैं खुद को उस आसरे में धकेलने को तैयार हो गया। लगा कि डर इस आसरे का ऊपर ढह पड़ने का उतना नहीं जितना कोई और है। पर और क्या ? आखिर मैंने खुद को लगभग धकेलते हुए चौखट पार की और तीन-चार कदम दूर खड़े मदजी के ऐन करीब जा खड़ा हुआ।

अब डर के साथ-साथ किसी असह्य ढंग की तीखी बदबू का अहसास मेरे नथुने चिचोड़ने लगा। आसरा खास बड़ा नहीं था, लालटेन का उजास जैसे एकत्र होकर थोड़ा सँजोर हो गया था। चौफेर तरेरोंवाली मैली, बदरंग दीवारें...आँगन के कच्चे-पक्के का कुछ अनुमान होना मुश्किल। दीवारों की जड़ों के आसपास झड़े हुए चूने का ढेर और ऊपर पुरानी डिजाइन वाली छत, जो कहीं-कहीं से झुकी हुई या छेदयुक्त ! पर सब से दुखदायी थी वह तीखी बदबू...जिसके बाबत एक ही अनुमान हुआ कि मदजी जरूर रात-बेरात यहीं-कहीं पेसाब करते रहे होंगे।

"बैठ...!" देर तक आसरा टटोलती मेरी निगाहों ने जैसे ही मदजी की तरफ देखा, वे फटाक से बोल पड़े। उनके हाथ के इशारे के साथ मैंने जिधर देखा, वहाँ छोटे पायों की एक खाट बिछी थी। खाट पर मैल की लोई जैसी शक्ल में एक गूदड़ पड़ा था।

मदजी ने इस बार जुबान से नहीं, हाथ से काम लिया और मुझे कुछ स्नेह और कुछ कठोरता से पकड़कर खाट तक खींच लिया। खाट की ईस पर जाकर मैं टिक गया। मदजी ने पहले से तय किसी कील पर लालटेन

मदजी दी ओर आकर उसी खाट पर मेरे सामने बैठ गए।

"आपको ठंड नहीं लगती ?" पूछने के साथ ही मुझे याद आया कि मदजी तो गूंगे-बावरे हैं और मुझे फिर बेचैनी ने घेर लिया।

"तुझे पता है, आज रात को परमी मास्टरनी क्या करेगी ?" मेरे सवाल पर जैसे उनके कान थे ही नहीं, उन्होंने बहुत कौतुकपूर्ण लहजे में खुद सवाल कर डाला।

"परमी मास्टरनी !" मेरा इस अचीते नाम पर चौंकना बेजा नहीं था।

"हाँ ..!" मदजी ने बड़ी अदा के साथ हामल भरी और अपने दाढ़ीवाले गाल पर हाथ रखकर मुझे घूरने लगे।

मुझे चटपट याद आया कि तीन दिन पहले परमी मास्टरनी की बूढ़ी सास की मौत कुएं में पड़ने से हुई थी। लोगों ने तरह-तरह की बातें कही थीं। उनमें एक यह भी थी कि परमी मास्टरनी ने अपनी बूढ़ी सास का माल-मत्ता तो पहले ही मीठी बनकर तचका लिया था। अब डोकरी उसके लिए बोझ थी और वह उसको मान-सम्मान से तो क्या, वक्त से भी रोटी नहीं देती थी। कहते हैं, डोकरी मरी उस दिन तो परमी मास्टरनी स्कूल जाते वक्त उस पर हाथ भी उठा गई थी। डोकरी के लाडले ने भी बराबर अपनी घरवाली को चुप रहकर समर्थन दिए रखा था। दोपहर में बेटा-बहू बाहर थे, तो डोकरी गांव के किनारे सूखे और सूने पड़े कुएं में जा पड़ी थी, उसकी जूतियां पास पड़ी देखकर किसी राहगीर ने थाने में इतला कर दी, तो थानेवालों ने ही लाश खिंचवाई। सभी कुछ हुआ होगा, पर मदजी को इस बेवक्त परमी मास्टरनी कैसे याद आ रही है।

"परमी मास्टरनी आज अपनी सास का ओसर करेगी...!" अचानक मदजी भल्लाए-से मुंह को विद्रूपित करते बोले।

"ओसर ? ओसर तो तेरहवें दिन होता है...आज तो सिर्फ तीसरा दिन है !"

"हां, पर परमी मास्टरनी को आज ही ओसर करना है, आज ही रात को...!" मदजी उसी तरह बोले और कुछ देर चुप सोच गए। पर

अगले ही क्षणों में उनकी गर्दन साँप के फन की तरह ऊपर उठी और जिस गाल पर दाढ़ी खुरची हुई थी, उस पर जबड़े की हड्डी की सख्ती उभरने लगी।

मैं समझने लगा कि मदजी में अब पीपल का प्रेत आज यहीं आकर करिश्मा दिखाएगा। वही हुआ। मैं अगली साँस ले पाया कि नहीं और मदजी बैठे-बैठे ही उछलकर खड़े हो गए। उनके पेट का जोर गले में समा चुका था और वे बोलने लगे, "थानेवालों की क्या वह डोकरी माँ लगती थी? माँ? निकम्मे कहीं के! डोकरी कुए में पड़कर नहीं, भूख से मरी है। यह भूख एक दिन इन सबको खाएगी...इस बेटे को, इस बहू को और इन थानेवालों को, जिन्होंने लाश पर भी सौदा किया...उसकी लाश उनको सजधज से जलाकर नाम कमाने को दे दी। जिन्होंने भूखा मार-मारकर उसे लाश बनाया...क्यों दे दी? क्योंकि परमली मास्टरनी का जोबन थानेदार के चित्त चढ़ गया...वा रे जोबन...सास के डील को पोस्ट-मार्टम से उबार कर उसकी मोक्ष करवा दी।"

एक-एक वाक्य बोलकर मदजी मेरे सामने हाथ झटकते जा रहे थे। जैसे इस सारे दुष्चक्र का कसूरवार मैं ही हूँ और वे मुझे लानत भेज रहे हैं। वे बुरी तरह हाँफ रहे थे और लालटेन के उजास में उनके नंगे बदन पर पसीने के धारे चमकने लगे थे। उनके चौड़े ललाट पर उनके खिचड़ी बाल छितरा गए थे और विकरालता किसी चक्रवात की तरह वहाँ चक्कर काटने लगी थी।

अजीब किस्म की एक घिन मुझे अन्दर ही अन्दर मथने लगी थी। पर मुझे साफ लग रहा था कि इस बार इस घिन का कारण सिर्फ पेशाब की तीखी बदबू नहीं थी, बल्कि परमी मास्टरनी, उसका पति और थानेवालों की मदजी की अदालत में अशरीरी उपस्थिति थी। मुझे ध्यान आया कि डोकरी वाली दुर्घटना से थानेदार की कैसी भली तस्वीर उभर रही थी। लोगों ने उसके लिए कहा कि उसने परमी मास्टरनी को बेटी कहकर पुकारा और सिर पर हाथ फेरकर दोनों पति-पत्नि को कचहरी के चक्करों से बरी कर दिया। लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि डोकरी के गले में [illegible] सोने की जंजीर थी वह भी थानेदार ने परमी मास्टरनी को

लौटा दी। आखिर उसे बेटी कहकर उसका धन कैसे रख सकता था।

एक क्षण मुझे लगा कि मदजी की सारी बात उनके घुटने पर गड़ी हुई है। कहीं ऐसा भी होता है! सोचकर मैंने उनकी तरफ देखा। उनकी आँखों में अब भी खिंचाव था और चेहरे की विकरालता में रत्ती-भर कमी नहीं आई थी। उनको झूठा मानने की मेरी मंशा रेत के घोरे पर पड़े आखरों की मानिंद एक ही झोंके में मिट गयी।

मैं मदजी के अगले कदम का इन्तजार करने लगा। सोचा, अब वे सदैव की तरह पत्थर उठाने को नीचे झुकेंगे और फिर पैर पटकते हुए किसी अचीती दिशा में बाहर हो जाएँगे।

पर आज ऐसा नहीं हुआ।

मदजी के दाँत किटकिटाते सुन पड़े और वे इतने ही बोले, "उसकी आँतड़ियाँ अगले पहिए से चिपकी पड़ी थी, पर नहीं, इन थानेवालों ने खुद ले जाकर पिछले पहिए को खून से रंग डाला...और अगला पहिया साफ हो गया साफ...!" मदजी की घिग्घी बँध गई जैसे...चेहरे पर दुःख, आतंक और क्रोध की आड़ी-तिरछी लकीरें दीखने लगी।

मैं उठकर खड़ा हुआ। पर और करीब जाने की जरूरत नहीं पड़ी। मदजी का मुँह झाग उगलने लगा और वे बेचेत-से अपनी खाट की ओर खुद ही लपक पड़े।

बाहर शायद तीखी-ठंडी हवा की रफ्तार तेज हो रही थी। कहीं पड़ोस में कुछ गिरने जैसी आवाज आई। चौंकते ही ठंड और एक अजनबी गुस्से से मेरी मुट्ठियाँ और दाँत भिंचने लगे।

मदजी अपनी झोलीनुमा खाट में औंधे-मुँह पड़े हुए सिसक रहे...थे!

उस रात मैं घर नहीं पहुँचा।

मदजी देर तक खाट में उल्टे पड़े ऐंठते रहे और मैं उनके पास बैठा-बैठा उनकी पीठ सहलाता रहा। कोई दो घंटे तो लगे ही होंगे, जब जाकर मदजी की देह ढीली पड़ने लगी।

वे उठ बैठे।

लालटेन मे शायद तेल खत्म हो रहा था। कुछ देर फक-फकाकर उसकी लौ डूबने लगी। जाते हुए उजास में मैंने मदजी की आँखों को झाँककर देखा। जैसे अंधड के जाने के बाद की छायी हुई गर्द हो, वहाँ मुझे एक सूनी-सूनी छाया मँडराती दिखाई दी।

आखिर लालटेन बुझ गई।

"सज्जन!" अँधेरे मे मदजी के बोल चमके, जैसे।

"हाँ, मदजी...क्या हुआ आपको? अब कुछ आराम है न!"

"हाँ..." मदजी ने इतना भर कहा।

मेरे सामने, मेरे आने पर शुरू हुआ मदजी का उत्साह और वह बावरेपन से मुक्त व्यवहार फिर प्रकट होने लगा। किस्से के अन्त के बोल याद आये। परमी मास्टरनी की बात सुनाते-सुनाते वे किस पहिए के खून लगने की ले बैठे थे? पर मुझे यह डर सताने लगा कि यह पूछते ही मदजी पर फिर से प्रेत की सवारी न हो जाए!

तभी मदजी बोल पड़े, "सज्जन...तेरा सोचना सोलह आने है...मैं बावरा नही हूँ रे!"

"मैंने आपको कभी बावरा नही जाना।"

"मुझे पता है, बीरा! पर अब यह बात बहुत पुरानी हो गई। समूची दुनिया मुझे बावरा जानकर ही चलती है...मेरे पास क्या सफाई कि मैं बावरा नही!"

"कैसे?" मैंने बेसब्री से पूछा।

"सुनेगा?" मदजी ने अनुमान से हाथ पसारे और मेरे कंधो पर रख-कर पूछा, "तुझे देर तो नही होगी?"

"देर तो जो होनी थी, हो ली...अब नही होगी।"

बासरे मे अँधेरा ठसाठस भरा था। उस तीखी बदबू को शायद मेरी नाक अब बर्दाश्त कर चुकी थी। अब इतनी तिलमिलाहट नही थी।

मदजी ने मेरे कंधों से हाथ हटाये और बोलने लगे।

"तब हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा नही हुआ था। पश्चिमी बंगाल की सीमा से लगे हुए पाकिस्तान के किसी मुकाम मे मेरे बापू का

आया ?'

'रसीद में तो सुनो आते नहीं, हमरे गाँव से लोग आए हैं, वही कहिन हमसे।' उसने कहा।

'किसके हाथ से भिजवाया ?' यह कई बार मुझसे भी भिजवाता था, इसलिए मैंने पूछा।

उसकी आवाज़ लड़खड़ाने लगी। जैसे होंठों पर किसी ने शिला रख दी हो, होंठ हिला-हिलाकर रह गया। मेरे दिमाग में एक नाम कूद चला आया। मैंने पूछा, 'छोटू बाबू से ?'

'जी।' उसने डरे-सहमे हामी भरी।

मुझसे छोटे वाले भाई को सब 'छोटा बाबू' कहते। धुंधली-धुंधली एक कल्पना मैं करने लगा। छोटा थोड़ा रंगीला और अभी से ऐय्याशी के रास्ते चलने वाला हो गया था। पर पैसे पूरे कहाँ से...? मेरे बाबू जी से एक आना भर चमड़ी उतरवानी आसान, बजाय एक आना नक़द से सरकने के।

मैंने अलगे को तसल्ली दी और भेज दिया। पर इसकी तकलीफ मेरे कहीं गहरे में उतरकर रह गई। एक तो इन मजदूरों को यूं ही कम मजदूरी मिलती और फिर वे पेट काट-काटकर अपने बाल-बच्चों का पेट भरने यह पैसा भेजते। जबकि हमारे यहाँ अलगे की सप्ताह भर की मजदूरी जित्ते पैसों के तो पान-तामूल ही आ जाते।"

लगा, मदजी ने खाट पर अपने को हरकत दी है। पुरानी ईसें चर्र-चूं करती चीख पड़ी जैसे। मैं उनकी ओर बोलने का दिलचस्पी से इन्तजार करने लगा।

"यह पहला अन्याय था, जो सीधा मेरे सामने आ खड़ा हुआ और मैं भी इसके सामने डटकर खड़ा हो गया।" मदजी ने जैसे विश्राम करना ठीक समझा हो, कुछ देर थमकर फिर अपनी लीक पर चले आए, "छोटे को बहुत बुरा लगा, पर आखिरकार मैंने उससे 'हाँ' करवा ली। अलगे के पैसे गद्दी से लेकर भिजवा दिए और मैं यहाँ, कुछ दिन के लिए देश चला आया। यहाँ इन्हीं दिनों मेरा ब्याह हुआ।

"ब्याह के बाद मैं फिर गया, तो अलगा मिला, 'बाबू, अब हम सब

झमेला ही मिटा दिए हैं...जनाना को यहीं से आये हैं।" मैंने कुछ नहीं पूछा, तः भी वह बताता गया, "और तो कोई रहे नहीं...एक हमरा ज[illegible], सो हम उसको यहीन से आये। भेकड़ू कोठरी से लिए हैं, वहीं [illegible] लिये हैं।"

"मैंने सुनकर सोचा कि अच्छा ही हुआ और इस अच्छे को चलते शायद [illegible] गया होगा कि एक दिन किसी से सुना, भलगे ने अपनी [illegible] को लात मारकर घर से निकाल दिया है और खुद बावरा-सा मारा-मारा फिरता है। मेरे कुछ समझ मे नही आया। फिर मैंने देखा, यह उसकी अपनी घरेलू बात है और वह हमारा मजदूर नौकर है, कहीं फालतू पंचायती न मानी जाए सो मैं बीच मे ही नहीं पड़ा।"

मदजी सयत किस्सा-गो की तरह बोल रहे थे। मैं अचभित हुआ अधेरे मैं उनकी आवाज की दिशा मे ताक रहा था कि क्या ये वही मदजी हैं, जिनको गाँव के छोरे-छोकरे कुर्ता खीचकर विढ़ा देते हैं?

"पर बात यहीं खत्म नही हुई, बीरा...आदमी का खून पीने की हमारे घर की पीढ़ियों पुरानी रीत थी। मेरी समझ में आ गया कि हमारे जैसे दूसरों की मेहनत से अपनी तिजोरियाँ भरने के धधे में लगे हुए सब परदेस कमानेवालों की यही रीत है।

"एक ऐसे ही घर मे जनमकर मैं इन खून-पसीना एक करनेवालो की दुनिया मे कैसे आ गया, यह अचभे की बात है। मैं शुरू से ही गोदाम का काम देखने लगा था। पता नही क्यो, छुटपन से ही इन मजदूरो के बीच मेरा मन ज्यादा रमता था।

"ये मजदूर गोदाम मे चौफेर पसरी पाट (जूट) के बीच, उसकी सीलन से उठती बदबू और उमस की परवाह किये बिना, देह पर पाट के फफूँदे चिपकाये अपने पेट का खड्डा भरने को लगे रहते। तब भी इस खड्ड मे क्या डाल पाते! एक मुट्ठी-भर मोटा चावल और च्यूँटी-भर नमक...।

"मुझे उनको काम करते, मजाक करते या गोदाम मे ही ईंटो के चूल्हे पर अपने मोटे चावल सिकोते देखकर एक अजीब सुख मिलता। बापू-

जी छठे-छमास गोदाम का चक्कर लगाते, वरना इन मजदूरों की साफ़कर छांटी-गांठी और गांठों में बँधी पाट के गद्दी पर बैठे-बैठे घाटे-मुनाफ़े के सौदे करते। मल्लाह के एक दिन कम-बढ़ लगाकर वहीं बैठे-बैठे इन मजदूरों की मजदूरी फेंक देते। मेरे बालक मन में यह सवाल जाने-अनजाने उठता ही रहता कि जिनके दम से हमारी देस-परदेस की हवेलियाँ, खेत-जमीन और ठाठ-बाठ हैं, वे कब तक इस मोटे चावल के साथ नमक फांक-फांककर पेट भरेंगे? खैर, यह तो पता नहीं कितना पुराना ढर्रा था यह, पर अलगे के साथ जो हुई उसने मुझे झकझोर के रख दिया है... ।"

मदजी जैसे परतें उधेड़ रहे थे। मुझे एक-एक परत के लिए बेसब्री बढ़ती जा रही थी। इस बार मदजी कुछ ज्यादा लम्बी चुप्पी लगा गये, तो मैंने कुरेदा, "अलगे के साथ आखिर ऐसा क्या हो गया था?"

"बताता हूँ, बीरा, बताता हूँ न!" एक रात को मैं गोदाम से दिन-भर का कामकाज दर्ज करने के बाद गद्दी जा रहा था कि अलगा मुझे मिला। उसके मुँह से ताडी का भभका आ रहा था। ताड़ी सभी मजदूर पीते थे, पर ऊन-फेल कभी नहीं होते थे। पर अलगे का आज का ढब कुछ अलग था। वह अपनी अकल से तो शायद मेरी ओर ही आ रहा था, पर उसके पैर उसके नियंत्रण में नहीं थे।

"पिछले कई दिनों से वह गोदाम भी नहीं आ रहा था। पर उसके साथी मजदूरों ने भी कोई साफ कारण इसका मुझे नहीं बताया था। सिवाय इसके कि अलगे ने अपनी घरवाली को मारा-पीटा और घर से निकाल दिया। दरअसल मजदूर अपने हालात के बोझ से ऐसे दबे हुए थे कि जिसके पास पैसा होता, उसे भगवान ही समझते थे। उनके मन में यह बात पता नहीं कित्ते अर्से से बैठी हुई थी कि यह सेठ-बाबू लोग भगवान समान ही हैं, जो उनका पेट भरते हैं...इसके चलते वे इन बाबुओं के साथ बहुत सम्मान और हीनता दिखाते हुए पेश आते। अपने हाथों से जो लाखमोली मेहनत वे करते, उसका मोल तो पहले ही हमारी तिजोरियों में कैद रहता, पर इसके साथ-साथ उनकी आत्मा भी गिरफ्तार रहती।

में आ गया और गर्दन ऊँची कर ली, पर तभी उसके पैर जवाब दे गये। वह बेतरह लड़खड़ाया और धराशायी हो गया।

तब तक दो दूसरे मजदूर आ गए। मैंने उन्हें अलगे को ले जाकर गोदाम में सुलाने का जिम्मा सौंपा और गद्दी चला आया। वहाँ आकर देखा कि मेरा वही बड़ा भाई सोने से पहले नित-नेम से करनेवाली अपनी प्रार्थना कर रहा है, जिसको लेकर अलगा अभी सब कुछ कह रहा था। मुझे रीस सी ऐसी उठी कि पंसेरी उठाकर उसका सिर तोड़ दूँ...पर सोचकर रह गया कि अलगा झूठा न हो। वह नशे में था...कहीं उसे वहम ही हो गया हो! पर मैंने निश्चय कर लिया कि इस बात की खोज-खबर जरूर करके रहूँगा।"

और मदजी फिर विश्राम लेने लगे।

"नींद तो नहीं आती, सज्जन?" इस बार मदजी कुछ देर बाद खुद-बखुद पूछ बैठे।

"ऊँ-हूँ...नींद कहाँ?" मैंने उत्तर देकर कहा, "मैं तो पूरे रस से सुन रहा हूँ...आपको सुनता हो या नहीं, मैं बराबर 'हुँ-कारा' भी तो देता हूँ।"

"देता होगा···पर बीरा, तेरे यह धड़का तो होगा कि कहीं यह आसरा ऊपर न आ पड़े...।"

"यह धड़का तो कभी का मिट गया।"

"तो फिर सुने जा..." मदजी बोले:

"दूसरे दिन मैं गोदाम गया और वहाँ से एक मजदूर चुन लिया। काम का बहाना देकर उसे साथ ले लिया। बाजार के पीछे कुछ दूर हट-कर एक नदी थी। उसके बाँध पर सड़क बनी हुई थी, जो सुबह-शाम बाबू लोगों के टहलने के काम आती। दिन में बाँध की सड़क प्रायः सूनी रहती। मैं इस मजदूर को लेकर इसी पर निकल पड़ा।

"कुछ देर तो वह जानते-बूझते भोला बनता रहा, फिर सब-कुछ बता दिया। उसने ही बताया कि अलगे की घरवाली बहुत सुरूप और उमर में जवान है। अलगे और उसकी उमर में बहुत फ़र्क है। वजह यह कि अलगे के घर की तरफ यह रीत है कि मर्द के पास जब-तक अपनी जमीन नहीं हो,

कोई औरत उससे ब्याह नहीं करती। अलगे के माँ-बाप उसे छोटा छोड़कर ही भूख से मर गये थे। उमर का बड़ा हिस्सा मजूरी करके उसने गाँव में थोड़ी-सी जमीन ली, तब जाकर उसका ब्याह हो सका। ब्याह के बाद अलगे की घरवाली की कोख से एक बच्चा भी जन्मा था। पर अलगा उसे देखने अपने देस लौटनेवाला था कि उसकी मौत की खबर भी आ गई।

"अलगा ज्यादातर तो मजदूरी के पीछे अपनी घरवाली से इसी दूर ही रहा। इस बार जैसे-तैसे करके वह उसे यहाँ ले आया था और एक कोठरी भाड़े लेकर बासा-बाड़ी कर लिया था।

"अलगे की सारी हकीकत बताकर उसने यह बताया कि अलगे की मुग्ध घरवाली उसके लिए कभी-कभी 'भात' पहुँचाने गोदाम आती थी। यहीं उसे मेरे बड़े भाई ने देख लिया होगा। उसने अलगे की घरवाली का हुलिया बताया, तो धीमे-धीमे बदन की एक साँवली-सी औरत मेरे आगे-आगे घूमने लगी। शायद गोदाम में ही कभी मैंने भी उसे देखा होगा।

"खैर, हुआ यह कि अलगे की घरवाली का गठा हुआ बदन मेरे बड़े भाई को अपनी नरम-नरम, हाथ लगने से मैली होने जैसी पीले रंग की बबुआइन से ज्यादा मन-माफिक आ गया होगा। उसका असर यह हुआ कि वे अलगे पर बेजरूरत मेहरबान हो गए और गोदाम के उनके चक्कर बढ़ गये। अलगे को वक्त-बेवक्त इनाम-इकराम भी देने लगे। भोला-भाला अलगा इस इनाम से मदमस्त होकर रह गया। दूसरी तरफ, एक मुँह-लगे मजदूर के मार्फत अलगे की घरवाली तक अपनी इच्छा भी पहुँचा दी। एक बाबू का ऐसा प्रस्ताव...पता नहीं कोई लड़ाई उसके जी में छिड़ी कि नहीं, पर अभाव में बढ़ी उसकी जवानी लोक-लाज और धर्म-मरजाद को लाँघकर 'बबुआइन' होने के बहकावे में आ गई तो कौन बड़ी बात !

"कुछ दो-चार और मजदूरों के भी वहाँ बासा-बाड़ी थे। उनमें तो वह पख लगाकर ऊँची हो ही गई। गोदाम में आठ-दस मजदूर रहते-खाते-सोते भी थे.. उनको कई इल्जाम लगाकर बड़े भाई ने दूसरे ठिकाने के लिए मजबूर कर डाला। और गोदाम में ही पता नहीं कब, कैसे किस-किसकी आँखों में धूल झोंककर, पाट (जूट) की गाँठों की ओट में, अलगे

की घरवाली से अपनी साध पूरते रहे।

"और अचानक ही किसी मजदूर ने देख लिया, और चुपचाप चला गया। उसने अलगे को पता लगा, तो उसने घरवाली को मार-पीटकर घर से निकाल दिया। पर अपने भगवान जैसे बाबू-लोगन पर वह यह नहीं इलजाम भी लगाते हुए भिझक रहा था। ना ही कोई दूसरा मजदूर इसका जिक्र कर बाबुओं को नाराज करना चाहता था।

"दूसरी गोदामों के मजदूरों को भी पता लगा होगा। पर उनके बाबू लोग भी उसी समाज के थे। इस बाबू-लोगों के दबदबे के चलते वे भी खुलकर नहीं बोल सकते।

"उसने यह भी बताया कि अलगे की घरवाली कुछ दिन इधर-उधर भटकती फिरी, फिर यहीं के एक मुसलमान के घर में रहने लगी। आखिर अलगे के सब्र का बाँध टूट गया और ताड़ी के जोर से उसने सब कुछ मेरे आगे उगल दिया। बात सोलह आने खरी है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं रहा। क्योंकि मेरे इस बड़े भाई की लांग पहले से ही ढीली रही हुई है, यह मैं जानता था। एक बार उनकी फजीहत उनका यह बाबू लोगों का समाज ही करने पर उतर आया था, क्योंकि एक बबुआइन से चक्कर था, तब बापूजी ने ही बात संभाली थी...।"

"फिर?" मदजी की चुप्पी मुझे बेतरह अखरने लगी और मैं उता-वला-सा बोला।

"फिर मैंने अलगे के लिए न्याय की माँग की। अपने बापूजी से मैंने कहा कि इस सारी लीला का हर्जाना अलगे को देना पड़ेगा। मेरे भोलेपन पर वे हँसे, 'हर्जाना? कौन लेगा हर्जाना?'

"अलगा!" मैंने कहा।

"उसके साथ बुरी हुई है, यह तो समझ मे आता है...पर ऐसा क्या तो अलगा हुआ और क्या उसकी घरवाली जिसका हर्जाना भरना पड़े?" बापूजी मसखरी करते-से बोले।

"वो थोड़े ही कहता है, हर्जाने का। यह तो मैं कह रहा हूँ हमें उसको हर्जाना देना चाहिए...उसकी घरवाली उसकी नहीं रही, दुःख के कारण वह मजदूरी नहीं करता और मारा-मारा फिरता है...कसूर किसका है?

कसूर है आपसे मजूर का !" मैंने उनको समझाना चाहा।

"बापूजी कुछ देर अपनी आदत मुताबिक मुँह चलाते रहे, जैसे बात उनके मुँह में हो और वे उसका जायका ले रहे हों। और फिर बोले, 'वो तेरा बड़ा भाई है। खबरदार, जो उसके खिलाफत में किसी का पक्ष लिया तो। हाँ, तो बुरी को बुरी कहेंगे...उसको बरज दूंगा मैं...पर आखी उमर अपने नमक से पलने वाले को हर्जाना देना पड़े, तो फिर तो खा लिया कमाकर!'

"बापूजी के बोल विष-बुझे तीर-से गड़े मुझे। अपना बेटा इस बदी के साथ भी अनमोल और वह रेत-समान सिर्फ इसलिए कि वह उनके पैरों तले आया हुआ है। मुझे अपने और अपने बापूजी के बीच में एक चौड़ी खाई इसी पल साफ दीखने लगी।

"फिर भी मैंने पीछा नहीं छोड़ा उनका। बोला, "फिर तीन बरस पहले हजार रुपये की थैली के बदले इसी भाई की इज्जत साबुत बचाकर क्यों लाए...?"

'वो इज्जत अगर जाती तो समाज में जाती, अपने समाज में...। बापूजी ने आँखें तरेर लीं, "वो मेरा बेटा है, मैं जीते-जी उसकी अपने समाज में हेटी कैसे होने देता ?'

'और यह समाज में नहीं है, क्या ? सब मजदूरों को पता है। वो बोलते नहीं, तभी तक ठीक है। बोलन लगे तो ?'

'समाज-समाज में यही तो फर्क होता है,' वे मुझे समझाने पर उतर आए जैसे, ये कह भी देंगे तो इनके आपस के सिवाय और कौन करेगा ? कौन मानेगा कि एक बाबू एक गंदी-सी मजदूरनी के लिए अपना चरित्तर खराब करे...कौन मानेगा कि अलगे की घरवाली ऐसी अप्सरा है, जिस पर कोई बाबू न्योछावर हो सके ?'

'मैंने देख लिया कि इन तिलों में तेल नहीं। पर आखिरी हथियार चलाने से नहीं चूका, 'अगर सब मजदूर एकठ हो जाएँ तो ?'

'हो भले ही।' बापूजी निश्चिन्ततापूर्वक बोले, 'पहले भी कभी हुए हैं क्या ? रोज रात को टके-टके की दाड़ी पीकर कौन लड़ेगा ?'

'इस बार मैं निरुत्तर होकर रह गया।'

'वे फिर समझाने लगे, 'तुम्हें अभी बहुत वक्त लगेगा—उन्ना-कानून और अमानवीय भावनाओं की किस्मों में फर्क कैसे रखें, ये बात सीखने को है, यही सीख। ये हक कानून की बातें कहाँ से सीख लीं?'

'भाई को इसका फल भुगतना पड़ेगा।' उनकी सीखों से तंग आकर मैंने कह ही दिया।

"और उनका रहा-सहा धीरज भी उनसे छूट गया। शायद मेरी आवाज़ की दृढ़ता से वे खीझ गये थे। एकदम बाँध फटा हो जैसे, 'सुन ले कान खोलकर, वह तेरा सगा माँ-पेट भाई है। तेरा धर्म है कि तू उसकी इज्जत को बचाए। उल्टे तू कुछ अपनी चाल चलेगा, तो उसको नुकसान हो न हो, तेरा नुकसान जरूर कर दूँगा, मैं।'

"मैंने पलटकर बापूजी का चेहरा देखा। मैं उनका संकेत साफ समझ गया था। वे मुझे इस कारबार, जमीन जायदाद और पैसे-टके की हिस्सेदारी से परे रख देने की धमकी दे रहे थे। इस बहस को टालकर मैंने एक बार फिर असगे की वकालत की, 'देखो, उस आदमी को अपनी वजह से कितना संताप हुआ है! इस संताप की कोई कीमत नहीं दी जा सकती, पर न्याय यही है कि हम उसको हर्जाना देवें और उसका घर बसाने के लिए कुछ करें...आखिर बरसों से उसका-हमारा संबंध है।'

'संबंध?' बापूजी गरजे, 'अरे निकम्मे! उसका-अपना संबंध! जा तू ही कर उसके साथ संबंध। गोदाम में सौ-सौ मजदूरों पर अभी हुकम चलाया है न! एक दिन सुआ हाथ में लेकर गाँठें सी-कर देख—पाँच तरह की तरकारी के साथ खाया है न! नमक को दाल की जगह फाँककर देख एक बार। तेरा डौल ऐसा ही लगता है। तू ये ही करेगा। जा, मर जा...मेरे मुँह-आगे से हट जा!'

मैं विश्राम लेने को थमे मदजी के बोलने की बात जोहता बैठा था। पर इस बार देर तक अँधेरे के साथ-साथ सन्नाटा भी हम दोनों के बीच बैठा रहा।

खुले दरवाजे में से, शुक्ल-पक्ष की किसी पिछली तिथि के देर से उगनेवाले चंद्रमा का उजास, छिटकने लगा था। देर से अँधेरा पचा चुकी आँखें इस थोड़े उजास से ही सब-कुछ देखने को सक्षम हो गईं।

ठंड इस रात के साथ-साथ गहराती गई होगी, ऐसा ही लगा जब ध्यान की गहराई से निकलकर पेशाब करने उठा।

"सज्जन!" मेरी हलचल सूंघ कर मदजी चौंके।

"नहीं, जा नहीं रहा हूं...थोड़ा फारिग होकर आ रहा हूं।' मैंने मदजी को आश्वस्त किया।

बाहर कोने-कोने पर चांदनी छिटकी पड़ी थी। मलबे के ढेर, अधढही दीवारें और पैरों में उलझती उगी हुई खरपतवार...सब-कुछ चांदनी की चाशनी से तर-बतर! रतजगे के कारण साधारणतः होनेवाली थकान की ठौर एक अनचीन्हा उत्साह समा गया मुझमें...जैसे किसी छिपे हुए खजाने तक पहुंचने में अब थोड़ा ही फासला बच रहा हो!

मैं लौटकर खाट पर फिर बैठा, तो उनकी ईसें नाराजगी-सी प्रकट करती चरं-चूं बज उठीं। मैं इससे बेपरवाह होकर बैठा और सोचा, चाहे जो हो यह मदजी का कमरा है बहुत गरम। ऐसे जैसे गहरी खुदी हुई कोई धूनी! बाहर की ठंडी ठाकर ने मेरे दांत बजा डाले थे। यहां पहुंचते ही कलेजे तक गरमाहट पहुंचने लगी।

अंधेरे में पवन वाली छाया सरीखे दीखते मदजी की ओर मैंने अनुमान से ही देखा। कुछ थमकर मैंने कहा, "मदजी रात थोड़ी ही बची है, और होने-होने को है...बात जल्दी-जल्दी पूरी करो!"

"बताऊं, वीरा बताऊं।" मदजी बोले, तो ऐसे जैसे हिवलास (स्नेह) की बाढ़ में बहकर और टटोलकर मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे।

"तो कहां तक पहुंचे?" कुछ देर बाद मदजी ने पूछा और मेरे उत्तर का इन्तजार किए बिना खुद-ब-खुद शुरू हो गये, "हां, मैंने अपने बापूजी से कह दिया कि हर्जाना भरना पड़ेगा और भाई को मजबूर करना है कि उन्हें माफी मांगनी पड़ेगी। इस पर वह मुझे उल्टा ज्ञान देने लगे। कहा कि तू उससे छोटा है और लक्ष्मण और भरत जैसा भाई बनना अपने धरम का काम है। भगवान ने तुझे मौका देकर तेरी परीक्षा ली है अमुक-अमुक...।

"बापूजी ने हर तरह का दबाव डालकर देख लिया, पर मैं नहीं माना।

मैंने कह दिया कि यहाँ मैं मजदूरों के साथ मिलकर उनकी फजीहत कराऊँगा। तब यही गोदामों में दखल खराब होगी। आखिर वे तंग आकर बोले, 'शाह तो, तेरी इच्छा ही जिद है, तो पाँच रुपये देने और चर्खाई में भाड़ दें।'

"मेरे भी जैसे कान तुनकर हाथ में आ गए! असले के इतने बड़े दुख भी यह कोसन लगाई बाबुओं ने! फिर मैं वहाँ नहीं ठहरा। वहाँ से आ तो गया, पर सोचने लगा कि यह चुनौती पूरी कैसे करूँगा? कहने को तो एक हमारे गोदाम में ही कोई सौ मजदूर काम करते थे और सब गोदामों के गिनने पर हजार से भी ऊपर हो जाते, पर तब भी आसान नहीं थी यह बात।

"तीन-चार दिन बराबर मैं मजदूरों से मिला। उनके जहन में तो बस पाट, इस पाट के साथ दिन भर की गधा-खटनी और साँझ पड़े एक-एक गुटका ताड़ी को छोड़ कोई बात बैठती ही नहीं थी। बाबू लोगों की महिमा में कैद उनकी आत्माएँ सड़ाकू थीं, तो बस अपने आपसी मोर्चों पर... इस मोर्चे पर एकजुट होने की कल्पना तक से वे अलग रखे हुए थे। बिहार के अलग-अलग जिलों के अलग-अलग दल—मैं समझा-समझाकर थक गया, सोचा कि सैकड़ों सालों से इन्हें बाबू लोगों की महिमा और भाग-दुर्भाग्य की अफीम पिलाई हुई है। इनकी नाड़ियाँ दिनोंदिन शिथिल होती गई हैं... दुनिया में कहीं कुछ हो, इन्हें कोई खबर नहीं। ये अपने हजारों हाथों से, जो मेहनत करते हैं, उसका फल कलकत्ता की जूट मिलों के मालिक पाट का सामान विदेशों में बेचकर चखते हैं। बीच में ये बाबू लोग भी कार-बार के नाम पर आधा-पूरा झटक लेते हैं... घुटनों-घुटनों पानी में पाट धोनेवालों को इसकी कीमत मुट्ठी-भर चावल से ज्यादा नहीं मालूम और न ही मिलती है उन्हें!

"अलगे ने दो-तीन बार ताड़ी चढ़ाकर शोर-शराबा मचाया, पर ज्यादा हिम्मत उसकी भी नहीं हुई। पर एक दिन नशे में बकते-बकते उसके मुँह पर अचानक एक नाम आया—धाड़ू शाह! वह बोला, "धाड़ू शाह होत रहित तो हम दिखाता कि कैसा अंगार निकलता गरीब का घर में डाकामती करने का!"

"मैंने धाड़ शाह की खोज-खबर की। सुना कि वह एक बिहारी है जिसके आसाम के जंगलों में लकड़ी के बड़े-बड़े ठेके हैं। यह भी पता लगा कि वह एक नम्बर का गुंडा भी प्रसिद्ध है। सबके हिसाब से यह धाड़ शाह ही वह जिले का था और वही उसे न्याय दिलवा सकता था। आखिर मैंने इस धाड़ शाह का पता-ठिकाना निकाल लिया। सोचा कि धाड़ शाह की शाहियत इन्हें अपने जातीय अस्तित्व का बोध करवा सकती है। वह एक बार आ जाए, तो अपनी ज़मीन के इन पिटते-मरते भाइयों को ललकार-कर खड़ा कर सकता है। बस, मुझे और कुछ नहीं सूझा। डूबते को तिनका भी पकड़ना पड़ता है न!

"एक दिन चुपचाप मैं धाड़ शाह के ठिकाने पर पहुँचने को निकल गया। पहुँचकर देखा कि धाड़ शाह वाकई धाड़ शाह था। हाथी जैसा शरीर और छोटी-छोटी चिरमी सरीखी आँखें। कद थोड़ा ठिगना पर गला बुलन्द, जैसे बोल नहीं चिंघाड़ रहा हो। अपने द्वारे बंधे बीसेक हाथियों की छाया उस पर भरपूर पड़ी थी शायद...लकड़ी के लट्ठे इधर-उधर पटकने के लिए उसने ये हाथी पाल रखे थे। मैंने पहली बार उस जमाने के आसाम में किसी बिहारी को इतना धन-बल से तगड़ा देखा। मैंने सारी बात कुछ ऐसे *बताई कि धाड़ शाह का अहंकार, जो पहले से ही पहाड़* सरीखा था, और फल-फूल जाए। मेरे बताने से असर ठीक पड़ा और सुनते-सुनते वह बोला, 'स्साला लोग को देख लेगा .'

"धाड़ शाह मेरे साथ ही चला आया। पहुँचने के तीन दिन बाद उसने मेरे बड़े भाई को वह प्रताड़ना दी कि उसकी गुंडागर्दी से सबकी हवा सरक गई। अपनी ठेठ जुबान में उसने पता नहीं क्या मंतर फूँका कि मैं देखता रहा और सारे मजदूर एकठ हो गये।

"धाड़ शाह जो बोलता, बस फरमान ही होता। उसके फरमान मुजब एक मजदूर दौड़ा और घूरे पर लिटते किसी गधे के गले में रस्सी डालकर हाँक लाया। इस गधे और सारे मजदूरों समेत धाड़ शाह हमारी गद्दी पहुँचा।"

"उसके डरावने चेहरे पर क्रूरता विकराल दीखने लगी और पहले से किया हुआ निर्णय प्रकट हो गया, जब उसने गद्दी में घुसते हुए थोड़ा-सा

पीछे घूमकर पूछा, 'ई दोनों में से कौन था ?'

"गद्दी पर बापूजी और मेरा बड़ा भाई दोनों बैठे थे। शायद अलगा धाड़_शाह के आगे-आगे ही था। वह सरककर आगे आया और उसने भाई की तरफ इशारा किया। फिर एक क्षणभर लगा होगा, धाड़_शाह अपने छोटे-छोटे पैरों को मोड़कर गद्दी पर चढ़ा और भाई का गला अपने पंजे में बटोरकर उसे नीचे खींच लिया। बापूजी इस अचीती हमले से सहम-कर पीछे सरके। धाड़_शाह ने अगला कदम उठाया। भाई को उसने पीछे से ऐसी ठोकर मारी कि वह सीधा गद्दी से बाहर पहुँच गया।

"बाहर मजदूरों का रेला-सा था। कुछ लोग तमाशाई भी बन चुके थे। इतने में मैंने सुना कि बापूजी ने बेतरह शोर मचा डाला, अरे! रामधन...कहाँ मरा रे, जल्दी बंदूक लाओ...। मुझे तो पता ही था कि वह हिफाजत के लिए चार लठैतों और एक बंदूक का बड़ा भरोसा रखते हैं।

"बापूजी के चीखने पर धाड़_शाह निर्भय पीछे मुड़ा और चिंघाड़ता-सा बोला, "इसाला, कितना गोली होगा तुमरे पास ? बाहिर देख, इतना आदमी को मारने में सकेगा ? चुपचाप बोईठ जा, नही तो लोग संगे तुमको भी बाहिर, समझा !"

"और फिर भाई को जबर्दस्ती उस गधे पर उल्टा मुंह करके बिठा दिया गया। एक मजदूर कहीं से कनस्तर उठा लाया और गधे-सवार भाई के आगे-आगे उसे पीटते हुए चलने लगा। यह सवारी एक-एक घर और एक-एक गद्दी के सामने से गुजरी...पीछे मजदूरों की फौज, बीच में गधे-सवार मेरा भाई और आगे-आगे लुड़कता-सा चलता दुस्साहसी धाड़_शाह !"

मदजी जैसे विश्राम-स्थल पहचानते हों, यहाँ तक बोलकर चुप रह गए। बाहर से माइक पर शुरू होते भजन-कीर्तन के बीच-बीच में कहीं गहरे से मुर्गा बोलने की आवाज भी आने लगी। भोर अपनी पदचापों से कुंकुम बिखेरती पास-ही-पास आ रही थी। पर मेरे कानों की बेसब्री मदजी के बोल फूटने को लेकर ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी।

वे फिर शुरू हुए, "बस, धाड़_शाह की इन भगवान सरीखे बाबुओं

की तरह रंग जमाने में लगे—मुझसे मजदूरों के हौसले खुल गए। वे बाबुओं की मंडली की कैद से एकबारगी आज़ाद हो गए जैसे। उन्हें देखकर एक बार तो लगा कि वे सब कुछ बदलकर ही छोड़ेंगे। खैर, इस सारे ताण्डव का नतीजा तो था ज्वार्‌-भाटा, पर बाबू समाज की आँख में खटका तो सिर्फ मैं। ज्वार्‌-भाटा आया और चला गया। अगले को घरवाली को उसने फिर बम्बई के घर में पहुँचा दिया।"

अचानक मदजी ने एक गहरी साँस ली। अँधेरे में उनके फेफड़ों में घुटती साँस की सीटी-सी सुनाई पड़ी।

"यह तो सब अच्छा ही हुआ, इसमें आपके साथ क्या बुरा हुआ?" मैंने मदजी को इस बार असमय विश्राम लेते पाकर पूछा।

"यही तो असल कहानी है बीरा!" मदजी ने इस बार साँस खींचकर हाथोंहाथ छोड़ी और बोले, "मैं मजदूरों के उस हौसले को मुखरित करना चाहता था। मैंने सारे घाट-मजदूरों का एक दल बना दिया। उनकी मजदूरी, खान-पान, आराम और पढ़ाई-लिखाई की कोशिशें शुरू कर दीं।

"मेरे इन कामों से बाबू समाज सख्त नाराज़ हो गया। मैंने परवाह ही छोड़ दी। मुझे साम-दाम-दण्ड-भेद से साधने की तरकीबें बेकार हो गईं, तो एक दिन बापूजी मुझपर आपा खोकर गरज पड़े, 'तू मेरा बेटा नहीं है। किसी राक्षस का पेशाब है, जो तेरी माँ कहीं से लायी हो।' मुझे उनका बेटा होने का कोई गुमान वैसे भी नहीं था। पर मेरे कारण उनकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाएगी, ऐसा अन्दाज भी मैं नहीं लगा सकता था। जो हो, अचानक मुझे लगा कि वे मेरे आगे हार चुके हैं, तो मुझे जरा-सी हँसी आ गई। मुझे हँसते देखकर वे और तिलमिला गये और जो सूझा सो बोलने वाले ढंग से कहा, 'तू राक्षस है तो मैं भी तेरा बाप हूँ। तुझे जेवड़ो (रस्सी) से नहीं बँधवाया तो मेरा नाम नहीं!' मैंने एक बार और हँसकर उनकी बात का मजा लिया और चला आया।

"पर यही मेरी गलती थी, बीरा! मैं अब भी बापूजी को अपना बाप समझ रहा था। उन पर जरा-सा भी सन्देह नहीं किया कि वे कैसी घात लगा रहे हैं। आखिर उन्होंने अपनी कही हुई कर दिखा दी। एक दिन मैं गद्दी के दोतल्ले पर अपने कमरे में सोकर उठा ही था कि चार

सफेद कोट पहने आदमी आए और मुझे घेर लिया। उनके पीछे-पीछे बापूजी थे; बोले, 'यही है।'

"फिर देर नहीं लगी। उन चारों ने मुझे हाथ-पैरों से जकड़ लिया। मैं कुछ समझता-पूछता इससे पहले वे मुझे घसीटते-खींचते नीचे ले आए। मैंने छूटने की भरपूर कोशिश की, पर वे तगड़े-तगड़े चार आदमी थे। बाहर पहुँचकर मैंने देखा, अस्पताल की बड़ी-सी मोटर खड़ी हुई थी। तब भी मेरी समझ मे कुछ नहीं आया : इस वक्त मेरी घरवाली भी वहाँ नहीं थी। वह पहला जापा (प्रसव) कराने अपने पीहर गई हुई थी। और कौन मेरी सुनता और फिर चीख-पुकार करनी चाही, तो किसी ने मुँह मे कुछ ठूँस दिया। मैंने आखिर अपने को उस मोटर मे पड़ा पाया और उन चारों को मुझे दबोचे हुए। दिन अभी ऊँचा नहीं आया था। मुँह-अँधेरा ही था। मोटर चल पड़ी। अन्दर पड़े-पड़े के ही मेरे एक सूई लगा दी गई। फिर मुझे कुछ होश नहीं रहा। क्या पता कित्ती देर चलकर वह मोटर कहाँ पहुँची, पर मेरी आँख खुली तो चौफेर अँधेरा था। मैंने हाथ पसार-पसारकर देखा, चारों ओर बहुत पास-पास दीवारें थी।

"उस कोठरी का दरवाजा शायद दूसरे या तीसरे दिन खुला होगा। जब मुझे पता लगा कि यह पागलखाना है। मैं और पागलखाने! बापूजी का षड्यन्त्र मेरे सामने था। इस तरह भला-चंगा होते हुए भी मैं पागलखाने पहुँच गया, वीरा!" मदजी ने मेरा कधा पाकर वहाँ अपना हाथ रखा और कुछ साँसें लेकर बोले, "मेरे बाप ने जबर्दस्त बंदोबस्त किया था। मैंने लाख कहा कि मैं पागल नहीं हूँ, पर छ. बरस तक उस अँधेरी कोठ[illegible] से मुझे बाहर नहीं निकाला गया। मैं पागल नहीं था। पर उन [illegible] दीवारों से सिर भिड़ा-भिड़ाकर शोर मचाता। कभी मेरी गर्भिण[illegible] घरवाली, तो कभी अलगा और दूसरे पाट-मजदूर मेरी आँखों के [illegible] आगे मँडराने लगे। मैं सचमुच का पागल होने लगा। रो-रोकर [illegible] सबको पुकारने लगा। वह पागलखाना क्या था, मेरे बापूजी का [illegible] हुआ यातना-गृह था। मैं ज्यादा बेकाबू होता, तो दो-दो दिन रोटी [illegible]-पानी बन्द हो जाता। वही सफेद कोट पहने पागलखाने के आदमी [illegible] आते और मुझे कोठरी मे ही पीट-पीटकर अधमरा छोड़ जाते। [illegible] अब तो मैंने अपने-आपको होनी के भरोसे छोड़

[illegible] मुझे [illegible]

[illegible] के सपनों में

दिया। सुबह किधर उठता और किधर डूबता। मुझे कुछ पता नहीं चलता था।"

भाटी के होंठ जैसे उस याद से सूखे हुए थे। अजीब नाटकीय लहजे में उनकी आवाज डूबती उभरती चल रही थी। इस बार की डूबी आवाज कुछ देर में उभरी, "फिर एक दिन मैं पागलखाने से निकाल बाहर किया गया। बाहर आया, तो दुनिया का रंग ही बदला हुआ लगा। मेरा दिमाग सही नहीं था, पर मैं इतना समझ गया कि देश का बँटवारा हो गया है। मेरे शरीर पर वही पुराने कपड़े थे। बस फर्क था तो यह कि वे अब एकदम झीने हो चुके थे। उजाड़ में मैंने अपने अंग निहार-निहारकर देखे। हाथ-पैर लकड़ी जैसे निकल आए थे। मैं कहाँ जाऊँ? कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था।

"मुझे बाद में जाकर पता लगा कि मैं बिहार के ही एक प्रसिद्ध पागलखाने में बंद था। इस बंद की व्यवस्था में बापूजी ने न जाने कितने रुपये स्वाह किए थे। मैं कई दिन ठोकरें खाता फिरा, तब अपने पुराने मुकाम पहुँचा। पर हालात वहाँ भी बदल चुके थे। बँटवारे में वह मुकाम पूर्वी पाकिस्तान में आ गया था और वहाँ के सब हिन्दू बाबू और मजदूर परिवार या तो सब कुछ छोड़-छाड़कर भाग गये या मारकाट में काम आ गये। गाँव उजड़े पड़े थे। आदमी तो आदमी, दीवारें तक अपनी असली हालत में नहीं थीं। मैं पुराने परिचय के सहारे ढूँढ़ता-भटकता फिरा। बस इतना ज्ञान पाया कि मेरे परिवारवाले रातोरात यहाँ से भागे और वही हाल हमारे का हुआ।

"बतानेवालों ने बताया कि माहौल भयानक हो गया था। रात-दिन के साथ रहे-जिये लोग भी एक-दूसरे के गले पर छुरियाँ ले-लेकर दौड़े। मैं पहुँचा तब तक शांति हो चुकी थी। पर मुझे न शांति चाहिए थी, न उपद्रव; मुझे चाहिए थी तो अपनी गर्भिणी घरवाली। बँटवारा हुआ ही था, सीमा-व्यवस्थाएँ इतनी मुस्तैद नहीं थीं, सो जैसे मैं गया वैसे ही लौट आया। मेरे सामने रास्ते ही रास्ते थे, पर इनमें मुझे किस पर जाना है, कुछ पता नहीं था। बस, एक ही ठिकाना रह-रहकर सूझता था—मेरी ससुराल। पर वह भी तो कोई पास ही नहीं था। कहाँ मैं बंगाल में भटक

घर मर गया था या साधू बन गया था। पर देर-सबेर यहाँ के लोगों ने मुझे अपना लिया। मैं अब क्या करूँ? पेट भरने का सवाल था। पास में सात पैसा भी नहीं था। मरकर लौटे हुए का विश्वास भी किसे होता! मुश्किल थी लेकिन भरती जमीन आखिर अपनी ही होती है। कुछ दिन आस-पड़ोस के सहारे बीते। फिर मुझे काम मिल गया। इन दिनों आज का यह कस्बा, गाँव सरीखा ही था। दूकान-कारबार इतने नहीं थे। यहाँ के ज्यादातर मर्द परदेस ही कमाते थे। उन्हीं दिनों यहाँ सेठ छोगराजजी की दूकान थी, जिसमें वे दूकानदारी तो नाममात्र को लेकिन गिरवी-साहूकारी का काम ज्यादा करते थे। कहने-सुनने से उन्होंने मुझे अपना मुनीम रख लिया। बापूजी का नाम ले-लेकर उन्होंने बहुत थोथी कृपा भी जताई लेकिन मैंने यह सोचकर कि पेट पालना जरूरी है, उनकी कृपा ग्रहण कर ली।

"यह हवेली तब ऐसी खस्ताहाल नहीं थी। मैं और मेरा बेटा दोनों इसमें रहने लगे। कुछ वक्त निकला कि मुझे यह मुनीमी छोड़नी पड़ गई। बात यह थी कि सेठ छोगराज गिरवी रखने के मामले में पूरा कसाई था। औरतों के घाघरे तक गिरवी रखने में संकोच नहीं बरतता। कितने खेत और कितने घर-बार सेठ की जाँघ नीचे दबे थे, कोई अनुमान नहीं था। गँवेड़ी किसानों को सेठ के आगे गिड़गिड़ाते देखकर मेरी छाती में कुछ कसमसाने लगता। कितने ही औरत-मर्द ब्याज के बदले सेठों की बेगार करते थे। यह सब देखते हुए रह-रहकर अलगा याद आने लगता। पाट (जूट) की बदबू में सुबह से शाम तक सिर घुसेड़े रहनेवाले वे मजदूर तो यहाँ नहीं थे, पर उनके जैसे दूसरे बहुतेरे थे।

"और उस साल बेतरह अकाल पड़ा। चौफेर भूख के भतूलिये उड़ रहे थे। भूखे-प्यासे लोगों की भीड़ जुट जाती। उस दिन, जब मैंने नौकरी छोड़ी, का नजारा मुझे ज्यों-का-त्यों याद आता है। एक औरत अपने बच्चे को गोद में उठाये सेठ के सामने खड़ी थी। 'अरे, बिना कुछ अड़ाणगत (गिरवी) रखे तुझे क्या दूँ?' फटे बाँस सरीखे गले से सेठ उसे झिड़कियाँ दे रहे थे। औरत ने घूँघट खींच रखा था। उसकी अवस्था कोई ज्यादा नहीं थी। कुछ देर झिड़कियाँ खाने के बाद उसने अपने गोद के बच्चे को

सेठों के आगे बढ़ा दिया। उसका अर्थ यह था कि मेरे पास इसके सिवाय कुछ भी नहीं है, इसे ही गिरवी समझकर रख लो। जैसे ही उसने दोनों हाथों में झुलाते हुए उस बच्चे को सेठ के करीब पहुँचाया, सेठ रोष में बेकाबू होकर उस बच्चे को परे धकेलते बोले, 'इस कीड़े का क्या बटेगा... बोलती है तो अपनी कीमत बोल ?'

"वह बच्चा जोर से धक्का खाकर औरत के हाथ से छूट गया और पहले, सेठ जिस तख्ते पर बैठा था, उसके सिरे पर गिरा फिर 'लद' की आवाज करता पक्की जमीन पर। मैं पास ही बैठा खाते लिख रहा था। मेरा खून एक समय ही दौड़ने लगा जैसे, लपककर बच्चे को उठाया, और उसकी माँ को थमाया, और सेठ के माँसदार गाल पर सज्जे हाथ को खींचकर झापट धर दी। सेठ पीड़ से तिलमिलाकर चीखा। उसके हाजरिये दौड़े और मुझे पकड़ा। उसी वक्त नौकरी छूट गई।

"पर क्या सेठ इतने में सबर करते। स्वतन्त्र भारत की पुलिस को मेरी हेकड़ी उतारने का काम सौंपा। तब यहाँ थाना नहीं खुला था। पास की किसी चौकी से पुलिस पहुँची और मुझे पकड़कर ले गई। वहाँ से पिट-कर आने के बाद गाँव में मेरी नयी पहचान बन गई। इतने बड़े सेठ को थप्पड़ मारने का अजीब दबदबा हो गया।

"तभी स्वतन्त्रता की हवा पसरना शुरू हुई। चुनाव का दौर आया और मैं बिना कुछ जाने-समझे नेता कहलाने लगा। कांग्रेस और दूसरी पार्टियों की बातें चलतीं। इन सबके बीच में कमजोर-सी सूरत में कम्यू-निस्टों की चर्चा भी होती। लोग कहते कि कम्यूनिस्ट पार्टी 'लूट खावणी' पार्टी होती है और कम्यूनिस्ट का अर्थ है 'कौमनिष्ट' याने जो कौम को नष्ट कर दे। इन्हीं दिनों यहाँ इस 'कौमनिष्ट' पार्टी की सभा हुई। मैंने दूर खड़े-खड़े भाषण सुने। सुनकर मुझे लगा कि बिना जाने-समझे भी मैं तो शुरू से ही इस पार्टी में हूँ। मैं पढ़ा-लिखा नहीं था और न मुझे आज से पहले यह पता था कि जूट मजदूरों के लिए मैंने जो लड़ाई मोल ली थी, वही इस पार्टी का खास मुद्दा है।

"सभा उठने पर मैं उन भाषण देने वालों के पास पहुँचा और कहा, 'मैं आपकी पार्टी में मिलना चाहता हूँ।' मेरे मोलेपन पर वे हँसे और

बोले, 'अच्छी बात है, तुम आज से हमारी गद्दी के हो, ठीक है !' अं बातों में किसी का नाम लेकर ज़ोर से पुकारा और उसके आते मुझे उसके सुपुर्द करते हुए कहा, 'ये देखो मेरे मास्टर...इसी का करना।'

"उसने मुस्कराकर मुझे देखा और पूछा, 'क्या नाम है ?'

'मदन मोहन।' मैं आत्म-विश्वास से बोला।

'वे थे मास्टर मनोहरजी। उस दिन के बाद मैं उनके इर्द-गिर्द ही रहने लगा। वे शहर के किसी गाँव से अक्सर आते थे। उनके साथ से मेरी समझदारी बढ़ने लगी और कई बातें, जिनके बारे में मैंने पहले कभी सोचा तक नहीं था, मैं जानने लगा। मुझे लगा कि मेरे जैसे के परिवारों में सिवाय 'वाणिकी' पढ़ाई के, बच्चों को और कुछ नहीं पढ़ाना उन्हें धन के अलावा सब बातों से अनजान रखने का पुश्तैनी षड्यन्त्र है। मेरे बाले साथ यही हुआ। घर पर आनेवाले मास्टर ने पता-ठिकाना लिखने-भर की अंग्रेज़ी सिखा दी, बापूजी ने काम उमेड़-उमेड़कर वाणिकी रटा दी और मैं कारबार में लग गया। दीन-दुनिया से आँखें मींचे धन कमाना, चाहे किसी आदमी की खाल उतारनी पड़ जाए, मेरे खानदान के पास पीढ़ियों से यही शिक्षा रही। इस शिक्षा से आदमी क्या बन सकता है इसका उदाहरण मेरे बापूजी और यहाँ के एक-दो राय बहादुर सेठ भी थे। पर, मास्टर मनोहरजी के साथ से मेरी अक्ल की खिड़कियाँ खुलने लगी थीं। मुझे लगने लगा था कि कुएँ में से निकलकर भरपूर आसमान को अब ही देख रहा हूँ कि मेरी यह हालत हो गई।"

"यह हालत ?" मदजी अचानक बात को तोड़कर हाँफने-से लगे, तो मुझे याद आया कि ये वही मदजी हैं, जिन्हें लोग बावरा मानते हैं और गाँव के बालक इन्हें छेड़कर भाग जाते हैं।

"हाँ बीरा, यह हालत" मदजी तपाक-से बोल पड़े, "तुम सेठाराम को तो पूरी तौर पर जानते हो न ?"

"हाँ, लेकिन क्यों ?" मैंने पूछा।

"सुन, इसने भी उन्हीं दिनों नेतागिरी शुरू की थी। इसके बाप ने उम्र-भर सेठों की लठैताई की थी। इलाके का नामी लठैत था। वह मरते

सबन अपनी पाप और अत्याचार की खासी कमाई छोड़कर मरा था। अब तो इस शेराराम के अपने उलटे-सीधे सौ धंधे हैं। पर जीते-जी इसके बाप ने इसे एक लाल पैसा नहीं दिया था। नामी लठैत का बेटा होना बेशक इसके सिर चढ़कर बोलता था। इसके चलते शुरू से ही अवारा, बदचलन था। मेरी हवेली इसके घर से ज्यादा दूर नहीं थी। अब भी नहीं है।"

"हाँ, मेरे घर से दो गली इधर ही है, आपसे दूर कहाँ।" मैं मदजी के अनचाहे विस्तार से झुंझलाकर खुलासा देने लगा।

वे बोले, "हाँ, तो मैं परदेश से इस हवेली में आकर रहने लगा, तो इसने मेरे साथ जाने क्यों मेल-मुलाकात बढ़ानी शुरू कर दी। मैं इसे मित्राचार ही समझने लगा। फिर यह रात-बेरात आने लगा और कई बार मेरी हवेली में ही सोता-उठता। इसके आवारगी के किस्से तो कई थे, पर मेरे सामने यह नेक-पाक रहता। मैंने सेठों की नौकरी छोड़ दी थी और कामरेड गणपतजी का साथ पकड़ लिया था, तब की बात है। यह एक दिन बहुत रात गए मेरी हवेली आया। बुरी तरह हाँफ रहा था और घबराया भी नज़र आ रहा था। दरवाजे पर खड़े-खड़े ही इसने कहा, 'मद, मुझे जल्दी से अन्दर आने दे, फिर सारी बात बता दूंगा। मैंने दरवाजा छोड़ दिया। यह अन्दर आ गया, तो मैंने दरवाजा बन्द किया और इसके सामने जा खड़ा हुआ। इसकी हाँफणी कुछ थमी, तो बोला, 'वे यहाँ नहीं आएँगे, पर आ जाएँ तो मुझे बचा लेना!'

'कौन?' मैंने पूछा।

'वे,' यह बताते कुछ झिझका, फिर जैसे छाती मजबूत करता बोला, 'पास के गाँव के सांसी।'

"सांसी?" मैं बोला।

'हाँ, मदा...मैं तुम्हें सब-कुछ बता दूंगा। आधा हिस्सा भी दूंगा।' वह उसी तरह बोला।

'यह, यही शेराराम?' मदजी के इस रहस्य-वृत्तान्त से मेरा कौतूहल बढ़ने लगा।

"हाँ, यही शेराराम...रे, यही।" मदजी की जैसे मेरी आवाज़ में

आई अविश्वास की बू से टेंग लगी। वे कुछ झल्लाए-से बोले, "फिर इसने मुझे सारी बात बताई। यह निचली जातियों की औरतों के साथ उनकी गरीबी-लाचारी का फायदा उठाकर अपनी काम-वासना मिटाता था। पर उस दिन तो इसने यह काम किया था कि घिन से मुझे उल्टी आने लगी। इसने बताया कि इसका जिस औरत के साथ शरीर का नाता जुड़ा था, उसके एक चौदह बरस की फूटरी-सी बेटी थी। इसने उस छोरी का ब्याह बाहर का सांसी बताकर अपने किसी आदमी के साथ करवा दिया, फिर उसे ले-जाकर पंजाब में बिकवा कर पैसे बना लिए।"

"यही शेराराम, जो नेतागिरी करता है।" इस बार तो मैं एकदम अविश्वासी बोल बोल गया।

"अरे, हाँ रे!" मुझे सुनकर लगा कि मदजी इस बार तो सचमुच पेट से बोल पड़े हैं। मुझमें सिहरन हुई कि कहीं पीपल का प्रेत उनमें फिर न उतर आए!

पर मदजी तुरन्त शांत दीखने लगे और बोले, "शेराराम ने मुझे बताया कि उसने पहले भी ऐसे कई सौदे किए थे। इस बार उनको चरखा नहीं दे सका और उस रात जैसे ही उनकी बस्ती पहुँचा, सारे सांसी मर्द एकठ होकर उसे मारने पर उतर आए।

"और उन्होंने पुलिस में इत्तला कर दी होगी तो?" मैंने शेराराम को डराना चाहा।

'पुलिस क्या होती है, उन्हें अभी पता ही नहीं।' शेराराम निश्फिक्री से बोलने लगा, 'और फिर वे कौन-सी अपनी छोरी माँग रहे हैं। वे तो कहते हैं कि छोरी के जितने पैसे मिले हैं, वे उनको दे दूं।'

'मैं कुछ नहीं बोला और शेराराम की कही-कही सुनता गया।'

'आज मैं अकेला घिर गया। कल तो उनका बन्दोबस्त कर दूँगा, पर आज वे तावे नहीं देंगे। शाम से ही संभकर बैठे हैं। जरूर मेरे घर भी पहुँचेंगे, मैं तुम्हें इस अहसान के बदले आधा हिस्सा दूँगा, पर यह बात अपने तक ही रखना।'

'मेरे गले में तो जैसे थूक तक सूख गया। मैं सूखे गले से बोला, 'यह हिस्सा-पाँती तुम अपने पास ही रखना।'

'पर…' तोताराम बोला।

'पर क्या? मेरे यह सब किसी से कहना जरूरी थोड़े ही है।' मैंने उससे पीछा छुड़ाने की उतावल में कहा।

"उस दिन बाद तोताराम ने मेरे घर आना-जाना एकदम बंद कर दिया। शायद उसकी समझ में आ गया था कि उसने गलत आदमी को अपना राज़दार बनाकर बड़ी भूल कर दी है। और यही सच था। उसकी यह करतूत मुझमें किसी पुराने घाव फोड़े-सी दुखने लगी थी। मेरा मन करने लगा कि उसकी यह करतूत सुनेन-सुनना न कह डालूँ, तब तक मुझे चैन नहीं।" कहकर मदजी फिर विश्राम लेने लगे।

"यह तोताराम! यह, जो आज एम० एल० ए० बनने की तैयारी कर रहा है, इतना घिनौरा (घृणित) आदमी है?" पूछते-पूछते जैसे मैं अन्दर-बाहर से सिहर उठा।

"घिनौरा? इतने में इसने अपना घिनौरापन कहाँ दिखाया! खास बात तो यह है, जो इसने मेरे साथ किया।" मदजी इस बार अविश्वसनीय धीरज से बोले और कुछ थमकर बताने लगे, "इसने इधर नेतागिरी पूरी तौर पर शुरू कर दी थी। यह गाँव बढ़ते-बढ़ते कस्बा हो गया था। तहसील और नगरपालिका के दफ्तर खुल गए। वह शायद इस गाँव का पहला नगरपालिका का चुनाव था। तोताराम वार्ड मेम्बर के लिए चुनाव में खड़ा हुआ था। मैं इसी के वार्ड में था, सो मुझे मनाने मेरे पास आया। मुझसे कहा कि मैं उसे वोट भी दूँ और सपोर्ट भी करूँ। मुझे कामरेड गणपतजी ने इसे वोट तक देने से मना कर दिया। मैंने उससे दो टूक कहा, 'मैं तुम्हें न तो वोट दूँगा और न ही वश पड़ते दूसरों को देने दूँगा।'

"इस बीच ही मेरा सबसे बड़ा सहारा टूट गया। एक दिन अचानक सुनने में आया कि कामरेड गणपतजी की हत्या हो गई है। फिर पूरी बात का पता चला। पास के गाँव में अभी तक रजवाड़ो-सी ठकुराई और 'रावळे' (सामतशाही) की मनमानी चल रही थी। गाँव के अछूतों को उन कुण्डियों से, जिनमें गाय-ढाँगरे पानी पीते थे, पानी भरना पड़ता था। कामरेड गणपतजी की अगुआई में अछूतों ने सबके साथ पानी भरने की चुनौती दी थी। गाँव का ठाकुर कुए पर नंगी तलवार लेकर खड़ा हो गया

था और जैसे ही कामरेड गणपतजी ने अछूतों को आगे बढ़कर पानी भरने को ललकारा, ठाकुर ने लपककर तलवार उनके पेट के आर-पार घुसेड़ दी थी। मुझे तो ऐसे लगा जैसे मेरा एक बाजू टूटकर अलग जा पड़ा। मैं उनकी कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य था या नहीं, पता नहीं, पर वे मुझसे हमेशा यही कहते कि हमने लड़ाई छेड़ दी है, एक दिन हमारी जीत जरूर होगी।

"मैं उनके मरने से अडोला-अडोला (सूना-सा) हो चुका था। इधर वे चुनाव हुए और शेराराम हार गया। वह दूसरे दिन ही मेरे पास पहुंचा, 'तुमने ठीक नहीं किया मैं तुम्हारा ध्यान रखूंगा।'

मैंने पूछा, 'कैसे ?'

'तुमने लोगों को मेरे बारे में उलटी पिला-पिलाकर भड़काया और मेरे वोट तोड़े। मुझे पता है, तुमने किससे क्या कहा।'

"मैंने किसी से कुछ नहीं कहा था, पर इस झूठी तोहमत और दादागिरी से चिढ़कर मैंने कहा, 'हां, कहा...और जिससे नहीं कहा, उससे भी अब कहूंगा। तुम मेरी दुम काटो, तो जरूर काट लेना !'

"उसने मेरे सामने देखकर जबड़ा भींचा और कटकटाकर बोला, 'दुम तो तेरी ऐसी काटूंगा कि याद रखेगा।'

मदजी एक बार फिर चुप हो गए। बाहर शायद उजास धीरे-धीरे अपने पांव पसारने लगा था। चिड़ियों की चहचहाट शुरू हो रही थी। मैंने सोचा कि पूरब दिशा में सूरज के स्वागत में गुलाल उड़ रही होगी और कुछ देर में ही धूप का धनी अपना मुंह उठाए बाहर आ जाएगा।

"बेटा !"

मैं सुनकर चौंका। मदजी को आज तक किसी को इस सम्बोधन से पुकारते नहीं सुना था। छोटा हो या बूढ़ा-ठेरा, वे हरेक को 'बीरा' कहकर ही पुकारते। साथ ही उन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रख दिया।

उजास धीरे-धीरे उस अधढही, जर्जर चौखट को लांघकर अन्दर आ रहा था।

"इस बात को कई दिन बीते। बीच में मेरे बापूजी के मरने की खबर भी आई, पर मैं नहीं गया। मैं फिर उधार की जमीन पर खेती करने लगा

था। दो जीवों के लिए अनाज हो ही जाता। सरकारी स्कूल में मेरा बेटा पढ़ने लगा था। वह कोई तेरह-चौदह बरस का हो गया था। और...।" बोलते-बोलते मदजी की आवाज़ ठम हो गई जैसे।

आसरे में अब भरपूर उजास था। मैंने मदजी को गौर से देखा। एक तरफ की दाढ़ी अस्त-व्यस्त छितराए काले-सफेद बालों के बावजूद भी अब वे उतने विकराल नहीं लगे मुझे। बस, उनके चेहरे पर दुःख और थकान नजर आई।

वे बोले, "मैंने सदैव अन्याय से मोर्चा लिया और इसी के पीछे बावरा बन गया। मुझसा बावरा तो बहुतों को होना चाहिए। मेरा बेटा रहता, तो मैं उसे भी ऐसा ही बनाता।"

मदजी की आँखों में से दो-चार मोती धीमे-धीमे लुढ़क पड़े और उनके सूखे-सूखे गालों पर छितराने लगे। मैं जान गया कि उनके ये आँसू बहुत मुश्किल से रस्ता पाकर बाहर आए हैं।

"उसका क्या हुआ ?" मैंने भोलेपन से पूछा।

"क्या हुआ ?" मदजी ने अचीनी तैश खाकर उत्तर दिया, "इस सेठाराम ने अपने आदमी की ट्रक से उसे भरे बाजार में कुचलवा दिया। उसकी अंतड़ियाँ ट्रक के पहिये से लिपट गईं। वह बच्चे कागदिए की तरह पीस गया। उस दिन दिवाली थी। लोग दिये जलाने के लिए तेल-घी खरीद रहे थे, जब जाकर मैंने उसकी बोटियाँ इकट्ठी कीं। ड्राइवर ट्रक वहीं छोड़कर भाग चुका था। फिर पुलिस आई और मूँछ-मक्खी तहकीकात करके यह मासूम लाश मुझे सौंप दी। इसी दर तो मैं घबराया-सा रहा पर अचानक मुझमें रोष ने विकराल रूप धार लिया। मैं चीखकर भागा, "सेठाराम, तूने, तूने मारा है इसे.. मैं तुझे नहीं छोड़ूँगा. ."

"लोगों ने मुझे पकड़ा। मैं बेकाबू हो गया था। अपने ही कपड़े फाड़ रहा था। धूल उछाल रहा था। लोगों ने मुझे थाम लिया और मेरे देखते-देखते उसकी छत-विक्षत लाश को गठरी बनाकर चिता पर रख दिया।

"फिर मेरा वेग कुछ थमा, तो मुझे पता चला कि थाने में सेठाराम खुद अपने आदमी को ले आया था। बयान में यह लिखा गया कि मेरे बेटे की मौत पिछले पहिए के नीचे दबकर हुई है। इसमें ड्राइवर का कोई

कसूर नहीं होता। यह सब सुनकर मैं फिर बेकाबू हो गया। थाने के सामने पहुँचकर हाय-तौबा मचाने लगा। थानेवालों ने मुझे पागल करार देकर, चार-पाँच सिपाही लगाकर घर पहुँचवा दिया।" मदजी क्षण-भर थमे, फिर बोले, "और मैं एक बार फिर पागल हो गया, बेटा!"

मुझे लगा कि मेरी आँखों में कुछ तैर रहा है। मैंने उन पर हथेली ढाँपी, तो वह गीली हो गई।

मैंने सोचा, मदजी का किस्सा खत्म हुआ, पर वे फिर बोलने लगे, "तीन-चार बरस मेरा यही हाल रहा। मैं बाजार पहुँचता और मुझमें वही बवाल उठ खड़ा होता। मैं ऊल-जुलूल बकता। धीरे-धीरे यह जग-मानी हो गयी कि मदजी बावरे हो गए हैं। मैं कुछ सतुलित भी रहता, तो टोगर-टोली मेरे कपड़े खींच-खींचकर चिढ़ाने लगती। उधर सेठाराम की नेतागिरी और कमाई दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई, इधर मेरी यह पुरानी हवेली बिना मरम्मत-सँभाल के ढहती गई।"

"पर, मदजी! अब आप ऐसे बावरे बनकर क्यों रह गए हैं?" मैंने अपने ही अनजाने में पूछ डाला जैसे।

"सुण बेटा, पाँच-सात बरस तो जरूर मेरा मुझ पर काबू नहीं रहा होगा, फिर ऐसी बात नहीं रही। मेरा चित्त स्थिर होने लगा। तो भी मैं जान-बूझकर बावरा ही रहने लगा। इस बावरेपन में यह दुनिया और साफ-साफ, और नगी नजर आने लगी मुझे। थाना-पुलिस आराम से सोता रहता है और मेरी नींद हराम रहती है। आसपास का सारा जोर-जुल्म और पापाचार उनसे पहले मैं ही देखता हूँ। मैं सेठाराम को नहीं पहुँच सकता, पर इस बावरेपन में उसे जी-भरकर कोस तो सकता हूँ'' यह बावरापन गया, तो मुझमें क्या रह जाएगा?"

"आपको पता है कुछ, रात को आपके मुँह से खीज के मारे झाग छूटने लगे थे।"

"हाँ, खीज आती है मुझे...यह खीज ही मेरा धन है...यह धन किसे सौंपकर मरूँगा...यही फिक्र करता हूँ। मुझे पक्का भरोसा है कि मेरी खीज से भले ही कुछ न हुआ हो, पर मेरे बाद के लोगों की खीज जरूर रंग लाएगी। आदमी के आदमी को ही जोंक की तरह खाने और चूस जाने

में गोद का बच्चा अदालतन (गिरवी) रखनेवाले हाथालों की इस पवित्र रीत की तरह जन्नत रहेगी।”

मैं मदजी के चेहरे को घूर-घूरकर देख रहा था। उनकी फैली हुई आँखों में जैसे कोई गहरी खाई नजर आ रही थी मुझे।

आखिर मैंने उस कमरे में एक बार और नजर दौड़ाई। कोने में नाली के पास पेशाब सूखने से जमे धब्बे दीख रहे थे, तो उससे कुछ दूर धुएँ से काली हो चुकी तीन ईंटें राख पर पड़ी थीं जिनमें पता नहीं कितने दिन पहले मदजी ने चूल्हा जलाया होगा और अपनी रोटी सेंकी होगी। एक टूटे हुए काँच के पास जंग खाया रेजर पड़ा था, जिससे शायद मदजी ने अपनी दाढ़ी खुरचने की चेष्टा की होगी और आधी खुरचकर ही छोड़ दी होगी।

फिर मैं उठकर बाहर चला आया। मदजी अपनी झोली हो चुकी खाट में मूर्तिवत् बैठे थे। जैसे इन्होंने अपनी सारी जद्दो-जहद भी मेरे साथ विदा कर दी हो।

रातभर घर न पहुँचने की पूछ-ताछ का घर पर क्या जवाब दूँगा, मुझे इस बात की जैसे कुछ फिक्र ही नहीं थी।

रतजगा

थके-हारे सूरज का उजास कस्बे के कगूरों पर स्याही बनकर बिखर रहा था। भीमकाय हवेलियों से घिरी सँकरी गली में सावित्री उतावली-सी चल रही थी। ऊँची दीवारों के सायों ने गली पाट रखी थी, जिससे अँधेरा पहले ही नीचे उतर आया था। इस अँधेरे से निर्भय सावित्री बढ़ती जा रही थी।

भक! किसी हवेली के शीश पर बल्ब जला।

छिटकती रोशनी में सावित्री को वह दिखाई पड़ा—मरियल कुत्ता। हाथ में दबे ठोंगे पर सावित्री की पकड़ शिथिल होने लगी। कुत्ता धीमे-धीमे पास आ रहा था। सावित्री ने ठोंगे को आँखों के आगे लेकर तोला। उसके मन में घृणा छूटने लगी। कुत्ता सामने पहुँचते ही सावित्री ने ठोंगा उलट दिया। असली घी वाला केशर-मिश्रित घेवर टक से जमीन पर जा पड़ा। एक बार सूँघकर कुत्ता घेवर चबाने लगा, चबड़-चबड़!

कुछ देर कुत्ते को घेवर खाते देखती सावित्री खड़ी रही, फिर चली तो अपने में हल्कापन लेकर। जैसे घेवर नहीं, चट्टान छिटककर चली हो।

"सावतरी, यह ले, टाबरों (बच्चों) के लिए मिठाई लेती जा।" लौटते वक्त नाम बिगाड़कर बोलनेवाली बड़ी सेठानी ने यह ठोंगा पकड़ाया था। वहीं खोलकर देखा, तो सावित्री को अपनी छाती में भाला धँसता जान पड़ा था। मन हुआ था कि पलटकर ठोंगा सेठानी के मुँह पर दे मारे और बता डाले कि...लेकिन सावित्री ने थामे रखा गुस्से को। ठोंगा चुपचाप हवेली की सीढ़ियाँ उतर आई।

सावित्री सात दिन के लिए हवेली में रसोईदारनी बनी है। ब्याह के विशाल रसोवड़े को सँभालने वाली दानी-सयानी रसोईदारनी। उसकी चौहरा के बूते सन्देश लानेवाली नाइन ने कहा था, "दस रुपये दिहाड़ी, सात दिन का खाना-पीना और इनाम-बख्शीश मिलाकर दो सौ की पक्की कमाई है। सावित्री, मेरी सौगन्ध, इन्कार मत करना। अरी! आपा नहीं सँभालोगी तो तेरी टाबरी (औलाद) कौन पालेगा ?"

मुँहलगी नाइन की मारक सहानुभूति से सावित्री सूत-भर भी विचलित नहीं हुई थी। यों पग-पग पर ढहना छोड़े सावित्री को अर्सा बीत गया। अब तो ऐसा मौका आने पर उसे फकत फीकी-सी हँसी आती है—सावित्री! क्या तू ही थी जो खुद को सेठानी समझने लगी थी ? और तेरे लिए यह बात कब इतनी सीधी-सच्ची बन गई कि तेरे बच्चे कौन पालेगा ?"

फाल्गुनी बयार में उबरी ठण्ड के खिलाफ अपना पुराना शॉल कसते सावित्री घर पहुँची। एक बड़े घर के पिछवाड़े गोदामनुमा कमरा और टीन की छतवाली रसोई, यही है सावित्री का घर। बल्ब की रोशनी में जूतियाँ देखकर सावित्री ने जाना—श्रीकांत आया है। जरूर सबके बीच रसोई में होगा।

गुड़ की भेली को लगे चींटों की मानिन्द सब चूल्हे को घेरे हुए थे। कैलाश तिनका गड़ाकर अंगारे कुरेद रहा था। राजू रुआँसा-सा सिर झुकाए बैठा था। सिर्फ मीना सो रही थी।

"खाना बनाया ?" सावित्री ने पूछा।

"हाँ, बनाया था।" बदरंग ऊनी कनटोप में अँगुली डाले सावित्री के पतिदेव, रतन बाबू ने बताया।

सावित्री ने कैलाश की तरफ देखा। वह पक्का जवाब चाहती थी। कैलाश मुस्कराया, तो सावित्री को याद आया कि इसे स्कूल गए तीन दिन हो गए हैं। उसकी अनुपस्थिति में घर सँभालने के बहाने से लाचार कर देना है।

"माँ ···" अबकी राजू बोला और ठिठक गया।

सावित्री को समझते देर न लगी। सवेरे राजू ने ज़िद की थी—साथ चलूँगा। हवेली के विराट तामझाम में उसकी सुध कौन लेता? मचलने पर नहीं माना, तो मार पड़ी। राजू सुबकता रहा और सावित्री पूजा-पाठ करती रही थी। निकलने लगी, तो एक बार फिर छाती से लगाकर राजू को बहलाया था, "मैं आज अपने साथ हवेली से मिठाई लाऊँगी। तू रोना मत, है न!"

अब तक राजू माँ के खाली हाथ भाँप चुका। अपनी ठौर खड़ा होकर पैर पटकने लगा, "मिठाई···ऊँ ऽ ऽ ऽ!"

सड़ाक्!

"बदमाश! ले, मैं दूँ तुझे मिठाई। नालायक सुबह से मता रहा है।" कनटोप से हाथ निकालकर रतन बाबू ने राजू को झापड़ दे मारा।

राजू लड़खड़ाया कि श्रीकांत ने लपक कर थाम लिया। उसने राजू को गोद में उठाया और रसोई से बाहर चला आया। रतन बाबू पीछे निर्विकार भाव से अपना कनटोप ठीक करने लगे। हिलने-डुलने से ऊपर सरक आया था।

सफ़ेद बादलों से छनती चाँदनी में राजू को लिए श्रीकांत घर से दूर निकल आया था। तभी पीछे से सावित्री की पुकार सुनी, "श्रीकांत बाबू, इसे लेकर कहाँ जाओगे?"

"भाभी।" घूमकर श्रीकांत ने देखा—सावित्री राजू को लेने बाँहें पसार चुकी थी। रोते हुए राजू को सावित्री की गोद में उतारकर श्रीकांत ने सावित्री को देखा। उसने श्रीकांत का घुटा-घुटा सम्बोधन शायद सुनकर भी नहीं सुना और मुड़कर जाने लगी।

अपलक देख रही है सावित्री—ऊपर गरलपान करते नीलकण्ठ और नीचे समुद्र-मंथन में लगे देव-दानव। देखते-देखते सावित्री का संस्कार-पोषित मन अभिभूत होता है। शिवजी की अधमुँदी आँखों से कैसी शांति बरस रही है—जहर गले से उतारकर भी! अचानक सावित्री ने कैलेण्डर ॥ पर ध्यान दिया। कितना पुराना हो गया यह कैलेण्डर! कैसी-

अतल गहराई में डूबना चाहती है लेकिन कहीं से आकर अनगिनत लड़ियाँ उसे उलझाने लगती हैं—बेहिसाब उलझी लड़ियाँ !

कितने फूले थे सावित्री के पिता, जब सावित्री का रिश्ता इतने बड़े घर हुआ। लाखों का कारबार, मान-मर्यादा और बेटी के लिए चाँद सरीखा सुरूप वर। सावित्री का सौभाग्य डाह करे जैसी बात थी। बहू बनकर सावित्री रतन बाबू के घर आई, तो बालसुलभ सरलता से समूचा वैभव मुँह फाड़कर देखती रह गई। चौफेर अपने रूप की कहानियाँ सुनती, जिसके चलते इस घराने ने माँगकर उसे बहू बनाया था। सावित्री के मामूली हैसियतवाले पिता कैसे ना करते? क्यूँ करते? वे सावित्री के दुश्मन थोड़े ही थे, जो यह मुँह-माँगी मुराद पलट देते।

उन दिनों रतन बाबू की शौकीन-मिजाजी के किस्से चलते थे। कुछ लोग रात-दिन उन्हें मशहूर करने में लगे थे। वे नहाते, तो नालियों में बहे इत्र-फुलेल से मुहल्ला गमकने लगता। सिल्क का सोनलिया कुर्ता जिस पर बसरे के असल मोतियों वाले बटन और ब्रासलेट की बारीक धुली हुई धोती पहनकर वे गली से गुजरते, तो रसोइयों में बैठी बहुओं के कलेजे कौंध जाते। काश! उसका घरवाला भी ऐसे गमकता-महकता निकले! अपनी चाल से जमाने की चूलें हिलाते रतन बाबू अपने पसन्दीदा पनवाड़ी की दुकान तक आते। सैकड़ों रुपये पान-किवाम के उनके खाते में दर्ज होते। देश में रहते तब तक हर तीसरे दिन तालाबों के इर्दगिर्द रतन बाबू अपने दोस्तों के साथ गोठें उड़ाते। सावित्री सुध-बुध भूली-सी इस व्यापार को देखती रहती। अपने पति की पकड़ में न आने वाली विराटता उसमें अथाह भक्ति-भाव पनपाने लगी।

इस इत्र-फुलेल से तर आलम के कुछ दिन बीते। इन्हीं दिनों एक नई खुसुर-फुसुर सुनने लगी। सावित्री को उसकी ननदों ने ही बताया कि भाई नशा करने लगा है। वे सावित्री से अपने रईस भाई को वश में करवाना चाहती थीं कि शायद उसके मनाये मान जाए। अपने देवता-तुल्य वर-देवता को सावित्री क्या मनाती? धीरे-धीरे सब उजागर होने लगा। [illegible] रातों में देर गए आते, तो सावित्री दरवाजा खोलने के लिए [illegible] बैठी होती। रतन बाबू झूलते-डोलते सीढ़ियाँ चढ़ते, तो सावित्री

उन्हें सहारा देती। फिर उन्हें होश आता, तो वे रात की बात किसी को बताने से सावित्री को वरजना नहीं भूलते। इस बरजने को सावित्री शिरोधार्य करके रखती।

कैलाश के जन्मने तक यह क्रम धन-प्रतिष्ठा की ओट में छिपा रहा। लोग सीधा कहने से कतराते थे, क्योंकि जानते कि उनके शब्द-बाण मोटी दीवार से टकरा कर औंधे मुँह ही गिरेंगे। एक दिन दीवार दरक गई। सावित्री के नामवर श्वसुर दिल्ली पटने से अचानक स्वर्ग सिधार गए। रतन बाबू का रहा-सहा अंकुश भी जाता रहा। फिर तो रतन बाबू ने वे परवाजें भरीं कि कुछ पकड़ में ही नहीं आया। कारबार में हिस्सेदार भेदिया-धसान करने लगे। इससे क्या हुआ मुनाफे हवा हो गए। रतन बाबू के पास फुर्सत कहाँ थी कि इधर मुँह ही कर पाते। तब बारी आई सावित्री की। अपने पति-परमेश्वर की भक्ति में बड़े घर की इस गर्वी-सावित्री की परीक्षा होने लगी। भारी-भारी गहने रतन बाबू की लौंडेबाज-मिजाजी, जुआखोरी और एक-एक तोला अफीम की कीमत चुकाने में निकलने लगे।

"सावित्री, कल तेरी औलाद बड़ी होगी। यही हाल रहे, तो क्या खिलाकर पालेगी? कुछ तो दबाकर रख।" सावित्री को सारे अपने बेगाने दुनियादारी सिखाने लगे थे। यह सावित्री भी पति के निमित्त सर्वस्व होम देने की घुट्टी लेकर आई थी, इस सीख के अमल से पतिव्रता होने का खतरा कैसे न समझती?

और एक दिन सावित्री ने पाया कि उसके आसपास कोई नहीं है। रतन बाबू के बेहिसाब दोस्तों का तांता टूट चुका है। सगे संबंधी कोसों दूर छूट गए हैं। वह निपट अकेली और असहाय है — अपने पतिदेव की उगी दी हुई दुनिया में। इस दुनिया में उसको अपना-दूसरा कहने को अबोध देवर और अपने कोख-जाए बच्चे के सिवाय कोई और है, तो सिर्फ रतन बाबू। फिर सास ने भी आँखें मूँद लीं। धीरे-धीरे भाई की छत्रछाया में पलते देवर बहनें सयानी हो आईं। ससुराल के बाद से एक बहन ने उसे अपने यहाँ बुला लिया। अपने बड़े घर के दाम्पत्य की दुम तक धीरे-धीरे हाथ नहीं लगी। वह यहाँ-वहाँ भटकने-

सावित्री ने हाथ रोक लिया। शायद वह समझ रही है कि इस तार का सिलसिला पोंछने की हद से गुजर रहा है।

सावित्री की निगाह उलझकर रह गई है—अपने पतिदेव के चेहरे पर। चालीस के आसपास की अवस्था में खिचड़ी, रुक्ष बाल, भीतर धँसी आँखें और हड़ियल चेहरा! क्या यही है उसका चाँद सरीखा सुरूप वर? एक फाँस-सी खटकने लगी है सावित्री के मन में। यही वह आदमी है, जो सनक की हद तक सावित्री को पर्दों में रखता था। कमरे की खिड़कियाँ खुली रहने की सख्त मनाही थी। घूंघट सूत-भर उठा रह जाता तो इसे गुस्सा आने लगता। दस बरस का बच्चा भी सावित्री से मिलता, तो यह उसमें पर-पुरुष की गंध सूंघने लगता। अपने परम मित्रों में से भी शायद ही किसी को इसने सावित्री का मुखड़ा दिखाया हो। दुल्हन बनने तक सावित्री स्कूल जाती थी, वह बनने के बाद नहीं गई। घराने की बहू भला किस प्रयोजन से पढ़ने जाती? परदेश कमाने गए पति-परमेश्वर को पत्र लिखने से बढ़कर औरत की पढ़ाई का मोल ही क्या? इतनी योग्यता तो सावित्री साथ लेकर आई थी।

यह व्यवहार सावित्री के लिए कुछ भी बेजा न था। उलटे वह इस फिक्र में घुली मरती थी कि रतन बाबू उसकी ऐसी देखभाल कम न कर दें। सावित्री को रतन बाबू के इस समूचे व्यवहार में अपने प्रति उनका पति-प्रेम ही नज़र आता। इस कृपा को वह एक अबोल-असोच स्वीकार के रूप में सतीत्व का जगमगाता जेवर समझकर पहनना पसंद करती थी। अब यही सावित्री को लगता है कि उसे पर्दों में छिपाने की सनक के पीछे छिपानेवाले के अपने मन का चोर ही तो नहीं था? यह चोर सावित्री के असती हो जाने का डर ही नहीं था क्या? यही था, तो आज वह कौन ऐसी बड़ी हो गई है कि चाहे तो...और सहसा सावित्री को लगने लगता है कि वह अपना नहीं, किसी और का बुढ़ापा ढोने को विवश है। सोचने-सोचने सावित्री को काया की ऐसी सुध आई कि अपने ही हाथ से उसने खुद को ऐड़ी से चोटी तक सहला डाला। उसे अपनी काया में झंकार-सी सुनाई देने लगी, धीरे-धीरे एक साफ आवाज बनकर उभरी—एक ऐसी आवाज जो फकत औरत की होती है, 'नहीं सावित्री,

भटकने ही जवान हुआ।

सावित्री की दुनिया और फैली, तो उसमें राजू और सीमा भी चले आए। सावित्री को कई बार लगता है कि सबकुछ उसके अनजाने ही होता गया है। उसे जैसे अपने पर ही विश्वास करना पड़ता है कि वह तीन बच्चों की माँ है—माँ! सीमा का आगमन तो कल की बात है, पर यह कल बीते जैसे अनन्तकाल बीत गया। इन दिनों रतन बाबू पर बुढ़ापा आया नहीं, वहीं से बरसा है। और सावित्री? उसके साथ उम्र नहीं, सिर्फ एक अंधी गति है जिसमें देह नहीं फकत मन बूढ़ा होता है।

यहाँ आने तक उम्मीद नहीं भटकी थी सावित्री ने। बड़ी कड़ाही की खुरचन बटोरने वाले अन्दाज में तीन-तीन जोड़कर उसने रतन बाबू को परचून की दुकान खुलवायी थी। कितनी निरीह निकली सावित्री की यह उम्मीद! यहाँ से उसकी गृहस्थी की गाड़ी और भी भयानक ढलानों का रुख करने लगी। एक पुश्तैनी मकान रह गया था जिसमें सावित्री अपने बच्चों समेत सिर छिपाए बैठी थी। रतन बाबू की जुबान पर एक ही बात थी—इसी को बेचकर नया कारबार शुरू करने की। अंतिम साँस लेता सावित्री का भरोसा दम तोड़ने लगा तो उसने अपने पर वार ही कह डाला, "पहले हम चारों को कुएँ में धकेल दो फिर नया कारबार शुरू करना।"

इसी दौर में श्रीकांत लौटा।

"भैया अकेले मकान बेचेंगे कैसे? उसमें मेरा हक भी तो है। भाभी, मुझे गलत न समझें...मैं आपसे हक नहीं जतला रहा। सिर्फ मकान को बिकने से रोकना चाहता हूँ।" हालात तोल-परखकर यही कहा था श्रीकांत ने।

आँधी सँभली लगती है। पल्लों पर हवा की चोटें धीमी हो गई हैं। बल्ब फिर जल गया है। अँधेरे में अभी-अभी जन्मा यह क्षीण उजाला भी कीमती-सा लगता है सावित्री को। कैलाश, राजू और सीमा को भली प्रकार कपड़ा ओढ़ाया उसने। उधर देखा, रतन बाबू का तकिया लार से गीला हो चुका है। गमछा खींचने बढ़ते हाथ में ऐंठन-सी क्यों हुई आज!

सावित्री ने हाथ रोक लिया। शायद वह समझ रही है कि इस सार का सिलसिला पोछने की हद से गुजर रहा है।

सावित्री की निगाह उलझकर रह गई है—अपने पतिदेव के चेहरे पर। चालीस के आसपास की अवस्था में खिचड़ी, रूक्ष बाल, भीतर धँसी आँखें और हड्डियल चेहरा! क्या यही है उसका चाँद सरीखा सुरूप वर? एक फाँस-सी खटकने लगी है सावित्री के मन में। यही वह आदमी है, जो सनक की हद तक सावित्री को पर्दों में रखता था। कमरे की खिड़कियाँ खुली रहने की सख्त मनाही थी। घूँघट सूत-भर उठा रह जाता तो इसे गुस्सा आने लगता। दस बरस का बच्चा भी सावित्री से मिलता, तो यह उसमें पर-पुरुष की गंध सूँघने लगता। अपने परम मित्रों में से भी शायद ही किसी को इसने सावित्री का मुखड़ा दिखाया हो। दुल्हन बनने तक सावित्री स्कूल जाती थी, बहू बनने के बाद नहीं गई। घराने की बहू भला किस प्रयोजन से पढ़ने जाती? परदेश कमाने गए पति-परमेश्वर को पत्र लिखने से बढ़कर औरत की पढ़ाई का मोल ही क्या? इतनी योग्यता तो सावित्री साथ लेकर आई थी।

यह व्यवहार सावित्री के लिए कुछ भी बेजा न था। उलटे वह इस फिक्र में घुली मरती थी कि रतन बाबू उसकी ऐसी देखभाल कम न कर दें। सावित्री को रतन बाबू के इस समूचे व्यवहार में अपने प्रति उनका पति-प्रेम ही नजर आता। इस कृपा को वह एक अबोल-अमोल स्वीकार के रूप में सतीत्व का जगमगाता जेवर समझकर पहनना पसंद करती थी। अब यही सावित्री को लगता है कि उसे पर्दों में छिपाने की सनक के पीछे छिपानेवाले के अपने मन का चोर ही तो नहीं था? यह चोर सावित्री के असली हो जाने का डर ही नहीं था क्या? यही था, तो आज वह कौन ऐसी बूढ़ी हो गई है कि चाहे तो...और सहसा सावित्री को लगने लगता है कि यह अपना नहीं, किसी और का बुढ़ापा ढोने को विवश है। सोचते-सोचते सावित्री को काया की ऐसी सुध आई कि अपने ही हाथ से उसने खुद को एड़ी से चोटी तक सहला डाला। उसे अपनी काया में झनकार-सी सुनाई देने लगी, धीरे-धीरे एक साफ आवाज बनकर उभरी—एक ऐसी आवाज जो फकत औरत की होती है, 'नहीं सावित्री,

भटकने ही जवान हुआ।

सावित्री की दुनिया और फैली, तो उसमें राजू और सीमा भी चले आए। सावित्री को कई बार लगता है कि सबकुछ उसके अनजाने ही होता गया है। उसे जैसे अपने पर ही विश्वास करना पड़ता है कि वह तीन बच्चों की माँ है—माँ! सीमा का आगमन तो कल की बात है, पर यह कल बीते जैसे अनतकाल बीत गया। इन दिनों रतन बाबू पर बुढ़ापा आया नहीं, कहीं से बरसा है। और सावित्री? उसके साथ उम्र नहीं, सिर्फ एक अधी गति है जिसमें देह नहीं फकत मन बूढ़ा होता है।

यहाँ आने तक उम्मीद नहीं भटकी थी सावित्री ने। बड़ी कड़ाही की खुरचन बटोरने वाले अन्दाज में तीव-तीव जोड़कर उसने रतन बाबू को परचून की दुकान खुलवायी थी। कितनी निरीह निकली सावित्री की यह उम्मीद! यहाँ से उसकी गृहस्थी की गाड़ी और भी भयानक ढलानों का रुख करने लगी। एक पुश्तैनी मकान रह गया था जिसमें सावित्री अपने बच्चों समेत सिर छिपाए बैठी थी। रतन बाबू की जुबान पर एक ही बात थी—इसी को बेचकर नया कारबार शुरू करने की। अंतिम साँस लेता सावित्री का भरोसा दम तोड़ने लगा तो उसने अपने पर वार ही कह डाला, "पहले हम चारों को कुएँ में धकेल दो फिर नया कारबार शुरू करना।"

इसी दौर में श्रीकान्त लौटा।

"भैया अकेले मकान बेचेंगे कैसे? उसमें मेरा हक भी तो है। भाभी, मुझे गलत न समझें...मैं आपसे हक नहीं जतला रहा। सिर्फ मकान को बिकने से रोकना चाहता हूँ।" हालात तोल-परखकर यही कहा था श्रीकांत ने।

आँधी सँभली लगती है। पल्लों पर हवा की चीखें धीमी हो गई हैं। बल्ब फिर जल गया है। अँधेरे में अभी-अभी जन्मा यह क्षीण उजाला भी कीमती-सा लगता है सावित्री को। कैलाश, राजू और सीमा को भली प्रकार कपड़ा ओढ़ाया उसने। उधर देखा, रतन बाबू का तकिया लार से गीला हो चुका है। गमछा खींचने बढ़ते हाथ में ऐंठन-सी क्यों हुई आज!

सावित्री ने हाथ रोक लिया। शायद वह समझ रही है कि इस तार का सिलसिला खोलने की हद से गुजर रहा है।

सावित्री की निगाह उलझकर रह गई है—अपने पतिदेव के चेहरे पर। चालीस के आसपास की अवस्था में खिचड़ी, रूखे बाल, भीतर धँसी आँखें और इंडियन चेहरा! क्या यही है उसका चाँद सरीखा सुरूप वर? एक फाँस-सी खटकने लगी है सावित्री के मन में। यही वह आदमी है, जो सनक की हद तक सावित्री को पर्दों में रखता था। कमरे की खिड़कियाँ खुली रहने की सख्त मनाही थी। घूँघट सूत-भर उठा रह जाता तो इसे गुस्सा आने लगता। दस बरस का बच्चा भी सावित्री से मिलता, तो यह उसमें पर-पुरुष की गंध सूँघने लगता। अपने परम मित्रों में से भी शायद ही किसी को इसने सावित्री का मुखड़ा दिखाया हो। दुल्हन बनने तक सावित्री स्कूल जाती थी, बहू बनने के बाद नहीं गई। घराने की बहू भला किस प्रयोजन से पढ़ने जाती? परदेश कमाने गए पति-परमेश्वर को पत्र लिखने से बढ़कर औरत की पढ़ाई का मोल ही क्या? इतनी योग्यता तो सावित्री साथ लेकर आई थी।

यह व्यवहार सावित्री के लिए कुछ भी बेजा न था। उलटे वह इस फिक्र में घुली मरती थी कि रतन बाबू उसकी ऐसी देखभाल कम न कर दें। सावित्री को रतन बाबू के इस समूचे व्यवहार में अपने प्रति उनका पति-प्रेम ही नजर आता। इस कृपा को वह एक अबोल-असोच स्वीकार के रूप में सतीत्व का जगमगाता जेवर समझकर पहनना पसंद करती थी। अब यही सावित्री को लगता है कि उसे पर्दों में छिपाने की सनक के पीछे छिपानेवाले के अपने मन का चोर ही तो नहीं था? यह चोर सावित्री के असती हो जाने का डर ही नहीं था क्या? यही था, तो आज वह कौन ऐसी बूढ़ी हो गई है कि चाहे तो...और सहसा सावित्री को लगने लगता है कि वह अपना नहीं, किसी और का बुढ़ापा ढोने को विवश है। सोचते-सोचते सावित्री की काया की ऐसी सुध आई कि अपने ही हाथ से उसने खुद को एड़ी से चोटी तक सहला डाला। उसे अपनी काया में झंकार-सी सुनाई देने लगी, धीरे-धीरे एक साफ आवाज बनकर उभरी—एक ऐसी आवाज जो फकत औरत की होती है, 'नहीं सावित्री,

में एक लॉण्ड्री के काउण्टर पर बिठा दिया। पहले कुछ दिन आराम से कटे, लेकिन थोड़े दिन बाद सावित्री का खटका सच्चा हुआ। श्रीकांत और उसकी ब्याहता के बीच डरावनी चुप्पी के धनुष खिंचने लगे। श्रीकांत सहमा-सहमा नजर आने लगा। इधर रतन बाबू ने धोबी की दुकान पर बैठकर खानदान की नाक कटवाना कबूल न करते हुए नौकरी छोड़ दी। दिन-भर घर बैठकर बीड़ियाँ फूंकने लगे। काम के नाम पर दिन में तीन-चार बार अपने लिए खुद ही गैस के चूल्हे पर अफीम के छूंतरे उबाला करते। ये छूंतरे खुद श्रीकांत को लाकर देने पड़ते। अपनी भाभी को थैला पकड़ाकर वह कहता, "भाभी, जब तक बन सके धीरज मत छोड़िएगा। आप बड़ी हैं, वह छोटी —यही समझ लें। फिर मेरी बात दूसरी है, वह आप सबको धीरे-धीरे ही अपना मान सकेगी न !"

सावित्री श्रीकांत का भीतर-भीतर टूटना देख रही थी। उस पर जब-तब दुतरफा बौछारें बरसने लगी। एक तरफ उसकी अधिकार-सजग पत्नी थी, तो दूसरी तरफ बड़प्पन की ग्रंथि से जकड़े भैया—जिन्हें पग-पग पर अपना और खानदान का अपमान नजर आता। आखिर एक दिन श्रीकांत के भैया बिदक ही गये। श्रीकांत ने बहुत विनती-चिरौरी की, पर अपने घर उन्हें रोक नहीं पाया। शहर का पुश्तैनी मकान उसी के कहे से भाड़े चढ़ाया गया था, ऐसे में उन्हें बेघर कहाँ भेजता ? फिर अपनी ही पहल से यह पिछवाड़ा लेकर भैया-भाभी को बसा डाला उसने। थोड़े दिनों में ही सावित्री ने पाया कि बरदा उसकी गृहस्थी चलाने के लिए रास्ता और सरल रहेगा। अपने पतिदेव को सावित्री ने बड़ी हील-हुज्जत के बाद मनाकर यहीं रोक लिया। रतन बाबू शायद इसीलिए मान गए कि छोटी ही सही, पुश्तैनी मकान भाड़े चढ़ाने से एक बंधी-बंधाई आय घर बैठे ही शुरू हो गई। बदले में यहाँ किराया नाममात्र का था।

"यहीं फिर भी आराम रहेगा।" हारकर श्रीकांत ने यही कहा था। सावित्री भाँप गई कि श्रीकांत अपना ही दिल बहला रहा है। बस एक श्रीकांत ही समूची दुनिया में सावित्री के लिए किसी भरोसे का नाम है, लेकिन हजार-हजार बार सोचे बिना नहीं। उसकी सीमाएं निर्धारित हैं, जिनसे थोड़ा भी पार निकलने पर उसके खानदानी भैया का अपमान हो

जाता है। अपने भतीजों के लिए एक बार कपड़े ला देने पर उसके भैया चिहुँक पड़े थे, "मैं मरूँ, उससे पहले किसी को मुझ पर मेहरबानी दिखाने की जुरत नहीं करनी चाहिए...समझी!"

नौजा विद्यायतन के मुर्गे ने बाँग दी—कुकड़ूँ-कूँ! उधर मस्जिद के माइक पर अजान सुनाई दी—अल्ला हो अकबर! भोर होने लगी है। कुछ देर में पड़ोस के जंगी जाल-वृक्ष में रातवासा लिए बैठे पखेरू पंख फड़फड़ाएँगे और चोंच खोलेंगे। भोर अपने एक-एक लक्षण से सावित्री को पुकारने लगी। यह भोर...इसी के लिए तो सावित्री ने रात आँखों में निकाली है।

"उठ भई सावित्री...छ: बजे पहुँचने का जो कौल किया है तूने हवेली से।" सावित्री ने खुद से ही जतलाया। हवेली—अलसवेरे ही जैसे सावित्री के मुँह में मुट्ठी-भर नमक भर आया—थू! थूका उसने, "छि-छि...कैसी ओछी हरकत की...दूसरों को आदमी क्यों नहीं समझते ये लोग?"

कहाँ तक काबू में रखे सावित्री! कोई इस तरह छीलने पर ही उतर आए तो क्या उफ् भी न करे? पहले दिन हवेली पहुँचने पर इसी बड़ी सेठानी ने बेशर्मी से पूछा था, "सच है क्या री सावत्तरी, कि तेरा घरवाला धेला भी नहीं लाता। तू उसे बिठाकर खिलाती है?"

सावित्री चुप रही, तो सेठानी अपनी जानकारी का बखान करने लगी, "मैंने यह भी सुना है कि तेरे ब्याह में ससुराल से तुझे तकड़ी में तोल कर सोना मिला था।"

"समय-समय की बात होती है न!" बेमन से हँसकर टालना चाहा सावित्री ने।

"कुछ धरा है, या खा-पी लिया सारा? उलीचे से तो कुएँ भी खाली हो जाते हैं..!" इस बार चाकू-सा लहलहाया सेठानी ने, फिर भी सावित्री ने मैदान नहीं छोड़ा और मुस्कराकर काम में उलझ गई।

"कल...कल हद कर दी इसने!" सावित्री के फिर से शूल गड़ने

जाता है। अपने भतीजों के लिए एक बार कपड़े ला देने पर उसके मैया बिहुँक पड़े थे, "मैं मरूँ, उससे पहले किसी को मुझ पर मेहरबानी दिखाने की जुर्रत नहीं करनी चाहिए...समझी !"

नौजा विसायतन के मुर्गे ने बाँग दी—कुकड़ूँ-कूँ ! उधर मस्जिद के माइक पर अजान सुनाई दी—अल्ला हो अकबर ! भोर होने लगी है। कुछ देर में पड़ोस के जंगी जाल-वृक्ष में रातवासा लिए बैठे पखेरू पंख फड़फड़ाएँगे और चोंच खोलेंगे। भोर अपने एक-एक लक्षण से सावित्री को पुकारने लगी। यह भोर...इसी के लिए तो सावित्री ने रात आँखों में निकाली है।

"उठ भई सावित्री...छः बजे पहुँचने का जो कौल किया है तूने हवेली से।" सावित्री ने खुद से ही जतलाया। हवेली—अलसवेरे ही जैसे सावित्री के मुँह में मुट्ठी-भर नमक भर आया—थू ! थूका उसने, "छि-छि...कैसी ओछी हरकत की...दूसरों को आदमी क्यों नहीं समझते ये लोग ?"

कहाँ तक काबू में रखे सावित्री ! कोई इस तरह छीलने पर ही उतर आए तो क्या उफ् भी न करे ? पहले दिन हवेली पहुँचने पर इसी बड़ी सेठानी ने बेशर्मी से पूछा था, "सच है क्या री सावत्तरी, कि तेरा घरवाला धेला भी नहीं लाता। तू उसे बिठाकर खिलाती है ?"

सावित्री चुप रही, तो सेठानी अपनी जानकारी का बखान करने लगी, "मैंने यह भी सुना है कि तेरे ब्याह में ससुराल से तुझे लकड़ी में तोल कर सोना मिला था।"

"समय-समय की बात होती है न !" बेमन से हँसकर टालना चाहा सावित्री ने।

"कुछ धरा है, या खा-पी लिया सारा ? उलीचे से तो कुएँ भी खाली हो जाते हैं.. ।" इस बार चाकू-सा लहलहाया सेठानी ने, फिर भी सावित्री ने मैदान नहीं छोड़ा और मुस्कराकर काम में उलझ गई।

"कल...कल हद कर दी इसने !" सावित्री के फिर से शूल गड़ने

लगे।

सांझ हुए सावित्री घर लौट रही थी। कमरे से शॉल लेकर निकली, तो यही सवाल पूछनेवाली सेठानी ठोगा लिए खड़ी थी। कुछ देर पहले सावित्री ने एक पिलपिले बच्चे को थाली पर अघाए बैठे देखा था। उसके आगे घेवर का टुकड़ा पड़ा था, जिसे वह खा नहीं बल्कि घूर रहा था। जूठा छोड़कर उठा, तो किसी ने उसे सावित्री के सामने ही कान पकड़कर वापस बिठाया था, "खा, खाना पड़ेगा...लिया तब नहीं देखा? असली घी का घेवर है, जूठा छोड़कर कुत्तों को डालने को नहीं है।"

सावित्री ने ठोगा हाथ में लिया कि उसकी नजर थाली पर पड़ी। उसमें मामूली जूठन थी और बच्चे का अता-पता ही नहीं था। अगले ही पल सावित्री ने ठोगा खोलकर देखा—छि! ठोगे में वह टुकड़ा मौजूद था। सामने सेठानी मुस्करा रही थी, "सावत्तरी.. ।"

"ठीक हुआ कि मैंने बड़ी सेठानी से कुछ नहीं कहा।" बिस्तर छोड़-कर उठते हुए सावित्री सोचने लगी, "रीस निकालकर सारे रास्ते बन्द कर लेती। उम्मीद तो सातवें दिन फलनी है, तीसरे दिन ही बात बिगड़ जाती। क्या पता, तीन दिन की मेहनत भी अकारथ जाती! एक बार जन्म लेकर ब्याह की रसोई सँभालकर दिखा दूं, तो यही सेठानियाँ गर्ज करती आएँगी मेरे पीछे-पीछे...फिर कोई पूछेगा तो बताऊँगी कि मेरा खसम...।"

कदम बाहर रखते ही जाल के पखेरुओं ने कंठ खोलकर सावित्री का स्वागत कर डाला। सावित्री ने मुस्कराकर इस सामूहिक चहक को दिशा में देखा। बेशक अपनी काया सावित्री को भारी-भारी लग रही थी, पर चहक सुनकर उसका मन पखेरुओं की पाँखों सरीखा ही हलका हो आया। दरवाजे पर खड़े-खड़े पलटकर उसने अपने तीनों बच्चों को निहारा और रसोई की तरफ पानी गर्म करने की मंशा से चल दी।

कुछ देर बाद सावित्री कमरे में लौटी। कैलाश का सिर सहला-सहलाकर उसे ऐसे पुकारने लगी जैसे कल की ओर भी आज ही जगा लेगी, "उठ, उठ जा मेरे लाल! देख, सवेरा निकल आया।"

मैंने गम्भीर होकर उसके मुँह की तरफ देखा।

"मृत सरकारी कर्मचारी की संतान...।" कहकर मेरे और करीब सरक आया और उसकी आवाज़ हाथ से छूटे काँच के बरतन की किरचियों-सी बिखर गई।

"देवधर!" मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा क्योंकि अचानक ही वह मुझे कुछ भयभीत नज़र आया।

वह चुप।

"देवधर, तुम कुछ पूछ रहे थे न! क्या हुआ तुम्हें अचानक?"

वह फिर भी चुप।

"हाँ, मृत सरकारी कर्मचारी की संतान के बारे में बोलो तुम्हें क्या पूछना था?" मैंने देवधर को स्नेहपूर्वक और तसल्लीबख्श लहजे में झकझोरा, पर वह तो जैसे पथरा गया था।

भीतर ही भीतर मैं झुँझलाने लगा।

मैं थोड़ा पीछे सरककर खड़ा हो गया और देवधर मुड़कर लौट गया। उसे जाते देखकर मुझे लगा कि उसके मन की कोई तकलीफ सिर्फ चेहरे पर ही नहीं, उसकी आकृति पर भी हावी हो गयी है।

इसके दूसरे दिन। नीची छत वाले इन दड़बों की सामूहिक छत हम सबका सामूहिक शयनागार भी है। हम बाउण्ड्री-वाल पर पैर रखकर बिना सीढ़ियों की इस छत पर पहुँच जाते हैं और एक-दूजे के बिछावन भी ऊपर खींच लेते हैं। फिर रात होती है, तारे होते हैं, शुक्ल-पक्ष हो तो चाँद भी होता है और नित-की-नित बासी होती जाती बातें दोहराते, हम होते हैं। इन बातों में नौकरी, सिनेमा, मार-पीट के अलावा भी कुछ होता है, जो यहाँ बताना मुनासिब नहीं जान पड़ता। हाँ, संकेत और संयत भाषा में उसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की गुप्त बातें कहकर काम चलाया जा सकता है। इन घिस-घिसकर बदरंग हो चुकी और, और होती जा रही बातों के प्रति कुछ उकताहट हो, तो वह फ़र्ज़ मुझमें ही ढूँढ़ी जा सकती है। पर मेरी यह उकताहट इतनी अभिजात्य अभी नहीं कि यहाँ रहना ही असम्भव जान पड़े।

कल देवधर के कुछ कहते-कहते अनमने लौट जाने से मेरा मन भी

अभी तक अनमना था। मैं खा-पीकर बाहर निकल गया था और लौटा तब तक भाई लोग छत पर पहुँच चुके थे। पम्प-ड्राइवर एक हरियाणवी राग गा रहा था, जिसकी भाई लोग कुछ ज्यादा ही जोश में दाद दे रहे थे। लगता था कि तारों के मद्धिम उजास में हर कोई अपने मन की गठरी खोल चुका था। हरियाणवी रागें अपने जिस दिलदहपन के लिए मशहूर हैं, ठीक वही स्वाद पम्प-ड्राइवर के गाने का था। चाहे तो कोई नाक-भौं भी सिकोड़ ले इस पर।

मैंने अपना बिछावन भीड़ से कुछ दूर हटकर बिछाया और इस मौज-मस्ती में आज शरीक न हो पाने की माफी माँग ली।

कुछ देर हुई कि गली के उस पारवाले अपने मकान की छत पर खड़े होकर वकील साहब ने ऐतराज उठाया कि यह कोई लफंगों का मोहल्ला नहीं, जो छत पर चढ़कर शोर मचाया जाए।

"चुप करो!" गाने और सुनने वालों को कही गई इस रोष-भरी आवाज से मैं चौंक गया। यह तो देवधर की आवाज थी। मुझे अचम्भा हुआ कि देवधर इस तरह चीख भी सकता है।

"देवधर ...!" मैंने जोर से पुकारकर कहा, "तुम यहाँ चले आओ।"

पर वह अभी भी सबको चुप करने में सचेष्ट रहा।

"इस वकील की तो ...!" यह मनमसोसती उक्ति अँधेरे में किसी ने तलवार-सी लहरा दी।

'देवधर...!" मैंने फिर हाँक लगाई।

इस बार उसने सुना और मैंने देखा कि वह आ रहा था। इतना उजास नहीं था कि उसके चेहरे की लकीरें पढ़ी जा सकतीं, पर उसका गुस्सा उसकी चाल से ही प्रकट था। वह आकर मेरे बिछावन पर टूटी डाल की तरह गिर पड़ा।

"ये शोर मचाते हैं, तो तुझे क्या? तू अपना खून क्यों जलाता है?"

वह नहीं बोला। मैं उसे गौर से देखने लगा। देखता क्या, उसके मौन में कुछ सुनने की चेष्टा करने लगा। उधर गाना खत्म हुआ और तालियाँ बजने लगीं। वकील साहब पैर पटकते नीचे चले गए होंगे।

"तुम्हें गाना अच्छा नहीं लगता?" मैंने पूछा।

"मैं तंग आ गया हूँ, पर कहाँ जाऊँ ?" उसने उत्तर दिया।

"कहाँ जाना चाहते हो तुम ?"

"भाई साहब, इससे तो ठीक था कि भेड़ें चराता, माटी खोदता और मजदूरी करता...!"

मैं उसकी इन असगत बातों मे कुछ संगति खोजने लगा और अचभित रह गया।

"भाई साहब, मैं सचमुच तग आया हुआ हूँ...वह फिर भी चीखता-सा बोला, "आपसे बात करनी चाही, आप भी मुझ पर हँसने लगे...!"

"देवधर, मुझे कुछ पता तो हो कि बात क्या है...फिर भी अनजाने ही मैंने कुछ हलका-पतला कह डाला हो तो मुझे माफ कर दो भाई !" मैं उसे विश्वास मे लेने को लालायित हो गया और खुले मन से बिना कसूर की शिनाख्त किए ही माफी माँग ली।

वह तब भी चुप।

"हाँ, याद आया मुझे...देवधर, तुम पूछ रहे थे कि मृत सरकारी कर्मचारी की सतान ऐसा ही कुछ था न ? बोलो वह क्या बात थी ?"

"हाँ, भाई साहब, मैं ही हूँ वह संतान।" वह बोला।

"तुम ?"

"हाँ, मेरी माँ सरकारी स्कूल में चपरासिन थी।"

"पर अब इससे तुम्हें क्या करना है ?"

"मैं जल्दी-से-जल्दी नौकरी पाना चाहता हूँ। मुझे इतने दिनों पता ही नही था कि नौकरी मे रहते हुए मरनेवाले सरकारी कर्मचारी की किसी एक संतान को सरकार नौकरी देती है...।"

"हाँ, यार...यह है तो सही। मेरे दफ्तर मे ही एक ऐसा मामला देखा है मैंने।" इस बार मैंने भी उत्साह से हामल भरी।

"तो यह सही है, भाई साहब ?" देवधर उठ बैठा।

"हाँ, देवधर...।"

उधर भाई लोगो के झुण्ड मे से हँसी का तूफान उठा।

"लेकिन तुम तो अध्यापक के प्रशिक्षणार्थी हो !" मैंने देवधर को और टटोलना चाहा।

देवधर थककर चुप हो गया। तसल्ली देने के लिए मुझे कई बातें सूझी, पर मैं कह नहीं पाया। चुपचाप, देवधर की अंधकार में डूबी हुई आकृति में उसका चेहरा ढूँढने लगा। कहीं से अवांछित बादल चले आए थे और तारों का उजास भी अब गहरा गया था।

"भाई साहब, आप अपने दफ्तर के मामले की पूरी पड़ताल करना। मुझे माँ की वजह से नौकरी मिल सकती है। माँ नौकरी करते-करते मर गई थी। बात पुरानी है, कहीं इस वजह से तो...नहीं...शायद इस मामले पर विचार हो सकता है। उस वक्त माँ के बालिग सन्तान थी ही नहीं। अब मैं हूँ तो सरकार नौकरी दे...।"

उधर भाई लोग न जाने किस बात पर एक बार और ठहाकों से आसमान छू रहे थे। मैंने उधर देखा। वकील साहब के रोशनदान से गली में छिटकता बल्ब का उजास भी अब शेष नहीं था। वे शायद तंग आकर सो गये थे।

भाई लोगों पर हँसी के दौरे पड़ रहे थे। ठहाके, और ठहाके गूँज रहे थे।

देवधर ने निढाल होकर अपना सिर मेरी गोद में रख दिया था। मैं उसके रूखे सिर में धीमे-धीमे अँगुलियाँ चलाने लगा। क्या इस पूरे साल, सारी दुनिया में जो साल देवधर को समर्पित कर मनाया जा रहा है, देवधर को इसी तरह निढाल रहना है।

देवधर ने एक बार सिर उठाया और बुदबुदाते हुए कहा, "भाई साहब, मेरी माँ स्कूल में चपरासिन थी...।"

नायक-नायिका

उससे आज टालना नही हो सका। फलत. वह सिनेमा देखने जा रहा था, पत्नी को साथ लिए। उसकी चाल मे तेजी थी जबकि पत्नी सुस्त-सुस्त चल रही थी। जब-जब उसका पत्नी के साथ चलने का काम पडता है, यही शिकायत रहती है। दोनो के मध्य एक फासला बनता-मिटता रहता है।

ठहर-ठहरकर उसे यह फासला पाटना होता है, लेकिन यह फिर बन जाता है।

"मुझसे आपकी रफ्तार से नही चला जाता। तांगा ले लो!" पत्नी ने चलते ही कहा था।

"अरे कैसी बात करती हो; साथ का लुत्फ तो पैदल चलने पर ही आता है!" कहकर वह पत्नी मे तांगा-भाडा बचानेवाली गृहस्थिन-सुलभ समझ ढूंढने लगा था। वह पैदल चलने से इन्कार करने मे बच्चों की तरह मचलने लगी, तो इसी बात को इस बार फार्मूले की शक्ल मे इस्तेमाल किया, "पैदल चलने का आनन्द निराला होता है। झूमते-टहलते जा रहे हैं, और फिर तुम कहोगी तो आते हुए तांगे मे चले आएँगे।"

फटाफट बोल गया वह। फिर सोचने लगा, 'यह अपनी जरूरत से ज्यादा भाषा का महत्त्व नही समझती। यह बाद मे जरूर पूछेगी कि निराला आनन्द क्या होता है?'

हां, इसके आनन्द का अर्थ बहुत सीमित है और मुझमे अलग भी इस बरस मे भी एकाकार नही हो पाए हैं। यह ऐसी व्यथा है जो मेरे साथ

जुड़ी रहेगी, उम्र भर।" उसने मन-ही-मन कहा।

शहर में एक मात्र शो मे लगनेवाली श्याम बेनेगल या मणि कौल की चुनिंदा फिल्मो के चुनिंदा दर्शकों में से है, वह। यही नहीं, शहर के रंगमंच का समझदार दर्शक भी और अब तो उसके पास इधर-उधर से उसकी समीक्षा के लिए किताबें तक आती है। और प्रसिद्ध भाषाओं के प्रसिद्ध क्लासिक्स तो अँगुलियों पर हैं, उसकी। अपने को यूँ याद करते हुए उसे तृप्ति मिली। पर अगले कुछ पलों में ही वह फिर अतृप्त होने लगा। उसकी पत्नी इस सब से बेखबर है। वह चिढ़ गया। पत्नी कहती है कि सबसे अच्छी फिल्म उसे 'राजा और रंक' लगती है, जिसे उसने पडोसिनो के साथ जा-जाकर पाँच दफा देखा है। उफ्!

उसने मुड़कर देखा। पत्नी आ रही थी। पीछे-पीछे एक ताँगा। ताँगे मे एक मरियल-सी एक घोड़ी जुती हुई थी, जिसे ताँगेवाला बेरहमी से हाँक रहा था। उसने कुछ देर देखा और निष्कर्ष निकाल दिया, "यह किसी मरियल घोडी से भी ज्यादा गई-बीती है।

वह घोड़ी और उसकी पत्नी लगभग साथ-साथ पहुँचे। वह पहले से ही ऐन सिनेमा-हॉल के सामने खड़ा था। उसने देखा घोड़ी हाँफ रही है। ताँगेवाला उसके बिना माँस के पुट्ठे सहला रहा है।

वह लपका और इस 'पहुँचने' पर बधाई देनेवाली मुद्रा मे मुस्कराया और जेब से बटुआ निकालते हुए पत्नी से बोला, "भीड़ है...तुम 'लेडीज़ विंडो' से टिकट लो।" और नोट थमाकर उसके पीछे हो लिया।

"औरत साथ लाने का एक ही सुख है।" पीछे-पीछे चलते हुए वह बुद-बुदाया।

'लेडीज़ विंडो' पर भी कतार थी। पत्नी उद्विग्नमना दीखती हुई कतार मे लग गई। वह कुछ देर उसे देखता रहा, फिर सामने दीवार पर लगे पोस्टर देखने लगा।

बहूरानी! यह फिल्म उसने शादी से पहले देखी थी। वह फिल्म का कथानक याद करने लगा। फिल्म की नायिका को एक मूर्ख के साथ ब्याह दिया था लेकिन नायिका अपने अथक श्रम व लगन से मूर्ख पति को एक श्रेष्ठ नर-रत्न बना डालती है। वह नए सिरे से फिल्म की समीक्षा करने

लगा। अच्छी थी...नहीं बकवास...भावुकतापूर्ण? तभी पत्नी टिकटें लेकर उसके पास पहुँच गई।

पहला शो अभी खत्म नहीं हुआ था। वे ऊपर बालकॉनी के पास प्रतीक्षालय में आ गए। उस फिल्म का कथानक अभी तक उसके दिमाग में था। पत्नी सामने खड़ी थी और उसके चेहरे पर भरपूर सुख-सन्तोष तैर रहा था। यह बहुत दिन बाद अपने पति के साथ फिल्म देखने का सुख था। उसे इस मामूली से सुख पर दया आने लगी। वह फिर उस फिल्म के बारे में सोचने लगा, "क्या उस नायिका के लिए ऐसा सचमुच सम्भव था?"

उसने इसकी पड़ताल शुरू की। नायिका की जगह वह होता।... बिल्कुल, वह चाहता तो पत्नी को सुधार सकता था। नहीं...अब कुछ सम्भव नहीं। उसने निराशा से पत्नी की ओर देखा। वह दूसरी औरतों को ताक रही थी। मूर्ख!

"सुनो!" पत्नी ने उसके पास आते हुए धीरे-से पुकारा।

"कहो।"

"दुकानें बन्द तो नहीं होंगी?"

"क्या खरीदना है?"

"बबली की स्कूल-ड्रेस का कपड़ा और मेरे लिए...।" पत्नी ने बात अधूरी छोड़ दी।

"हाँ, अपने लिए क्या?"

"चलो हटो...मुझसे नहीं बताया जायेगा।" पत्नी सबसे छिपाकर केवल उसके सामने शरमाई।

वह झुँझला गया। कैसी बचकानी औरत! दस बरस का वैवाहिक जीवन बिताकर अपने पति के सामने शर्माती है। कपड़ों तक का नाम नहीं ले सकती। ऐसे ही मौकों पर उसे कुढ़न होती है। पर कुढ़ते हुए वह मुस्करा लेता है। इस वक्त भी मुस्कराया।

"खुली होंगी...जो तुम कहोगी सो खरीद दूँगा।" उसने मुस्कराकर कहा कि सीढ़ियाँ पौड़-पौड़कर चढ़ता हुआ केदारी उसे दीख गया। केदारी ने भी उसे देख लिया।

केशरी उसका कोई ज्यादा करीबी दोस्त नहीं है। पर इस वक्त केशरी को उससे हाथ मिलाता देखकर उसके पीछे आ रही महिला ने भी उससे नमस्ते की।

"यह हमारी श्रीमती हैं।" केशरी ने उस महिला का परिचय दे डाला और उसका भी?

अब वे चार हो गये और शो खत्म होने की प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच केशरी ने किस्सा सुनाया कि कैसे वे भीड़ देखकर पहले निराश हुए, फिर उनकी श्रीमती जी ने अपने तजुर्बे से 'ब्लेकियर' ढूंढ़ा।

"ये अक्सर आपके बारे में बात करते रहते हैं।" केशरी विश्राम लेने लगा, तो श्रीमती केशरी बोली।

"मेरे बारे में?" उसने चौंककर पूछा।

उसे ऐसी बात की केशरी से कभी उम्मीद नहीं थी। केशरी की पत्नी से तो पहली मुलाकात है। केशरी अपनी पत्नी के सामने क्या बात कर सकता है?

"क्या कहता है यह?" उससे काफी कठिनाई से पूछा गया।

"वह चाहे कुछ भी हो, लेकिन मुझे आपसे मिलकर खुशी हुई है।" श्रीमती केशरी बोली।

उसने प्रश्नवाचक दृष्टि से केशरी को देखा।

"अरे, कुछ नहीं कहा भाई...बस, तुम्हारे सुनाए हुए एक-दो लतीफे इन्हें भी सुना दिए और तुम्हारा नाम भी बता दिया।" केशरी एकमुश्त बोल गया और जैसे यह कोई लतीफा ही हो, ठहाका लगाकर हँसने लगा।

वह स्तब्ध हो गया।

केशरी और वह मिलने पर आपस में 'नानवेज' लतीफे सुनते-सुनाते हैं। उसे पिछली मुलाकात में अपना सुनाया हुआ ऐसा ही एक लतीफा याद आया। फिर उसके लिए उन दोनों के सामने देखना भारी हो गया। वह एक आला किस्म का अश्लील लतीफा था। उसे लगा कि उसके कपड़े तार-तार हो गए हैं और छिपानेवाले सारे अंग बाहर झाँकने लगे हैं।

आखिर एक उड़ती नजर उसने अपनी पत्नी पर डाली। वह उदास और अनमनी दीख रही थी। पत्नी को इस वक्त किसी का मिलना अँखा

लाला महाराज की शिनाख्त होते ही लोग प्रसन्न हो गए।

"वाह ! मजा आ गया। लाला महाराज के क्या कहने ! रामलीला में अगर रावण ढंग का न हो, तो राम की कौन-सी बिसात कि अकेले रामलीला रच ले। रावण के बिना रामलीला फीकी...धिक्कार ! ऐसी रामलीला को।" मेरे बाजू बैठे एक दर्शक ने भोले-भोले ही यह गूढ़ ज्ञान प्रकट कर डाला।

मंच पर मंदोदरी-विलाप आरम्भ हुआ। रावण उसे रोता छोड़ अशोक-वाटिका के लिए प्रस्थान कर चुका था।

विलाप चाहे कैसा भी हो, गाने में आए बगैर जमता कहाँ है ! मंच के एक बाजू बैठे ढोलकिये ने थाप मारी। हारमोनियमवाले ने सुर छेड़े। गवैये ने गला खोला। मंदोदरी की तो फकत मुद्राएँ !

और, अचानक सज्जनकुमार मंच पर पहुँचा। कंधे पर आज धनुष-बाण नहीं थे। लेकिन इससे क्या; दर्शक उसे दस बरस से पहचानते थे— राम ! हाँ, यही तो सदैव राम का पार्ट करता है। राम ने आज सादी वेशभूषा में आकर माईक पकड़ा। ढोलकिये ने जोर से थाप मारी। हारमोनियम शांत। गवैया चुप।

"हाँ तो सायबान-कदरदान...!" सज्जनकुमार की आवाज सुनाई पड़ी, "भक्त और भगवान की जय ! रावण के अभिनय से खुश होकर तमाखीमलजी सिन्धी ने पाँच रुपये भेंट किए। बोलो सियावर रामचन्द्र की जय !"

"जय" के साथ-साथ ढोलक की थाप बजी—धड़िंग !

मंदोदरी-विलाप फिर शुरू हुआ।

फिर बन्द हो गया।

सज्जनकुमार फिर माईक पर, "(धड़िंग)...हाँ-सा, सेठ साहब फत्तूमलजी की तरफ से ग्यारह रुपये सप्रेम भेंट। बोल सियावर..."

इसी के साथ शोर उठा। लोगों ने मंच से मुँह फेरकर उधर देखा। दाँई ओर भीड़ ऐसी हड़बड़ाई जान पड़ी, मानो किसी ने पैरों में साँप छोड़ दिया हो। सदाबहार स्वयंसेवक भागे। (सदाबहार स्वयंसेवक हरेक छोटे-बड़े शहर में हमेशा होते हैं, जो बिना न्योते की प्रतीक्षा किए अपने

कर्तव्य पर आ डटते हैं) स्वयंसेवकों के हाथों में डंडे थे। डंडे फटकारते वे मौका-ए-वारदात पर पहुँचे।

सॉंप नहीं था। कुन्दन भगी था। दर्शकों ने अब तक पहचान लिया था। पर वह आखिर चाहता क्या था?

"छोड़ो...छोड़ो मुझे!" स्वयंसेवकों की मजबूत गिरफ्त में मरियल कुन्दन बल खा रहा था।

"बैठ जा चुपचाप!" नामी पण्डित जेठमल कुछ दूरी पर खड़े-खड़े उसे फटकार रहे थे।

उधर मंच पर सज्जनकुमार और मंदोदरी, दोनों भौंचक रह गए। अचानक यह नयी रामायण कहाँ शुरू हो गयी! ढोलकिये के हाथ ढोलक से चिपककर रह गए। हारमोनियम की हवा निकल गई। गवैया गाना भूल बैठा।

लोगों को कुन्दन का अभिनय ज्यादा समय तक बाँध नहीं पाया। जो उठ चुके थे, वे वापस बैठने लगे। स्वयंसेवकों ने उसे कुछ देर पकड़े रखा, फिर धक्का देकर अलहदा किया। धक्का खाकर कुन्दन चोट से तिलमिलाए मरोड़े की तरह वापस उसी दिशा में लौटा। स्वयंसेवकों के करीब पहुँचकर उसने अपनी जेब में हाथ डाला। वापस निकाला, तो मुट्ठीभर रुपये। स्वयंसेवक अचम्भित हुए। अचम्भा तो उन्हें अभी और करना था। दस-दस के दो और रुपये का एक नोट छाँटकर कुन्दन ने उनके सम्मुख कर दिया।

"ले जाओ!" वह मुँह नोचने की तरह बोला, "इस पतिये सेठ की तो माँ की...! कह दो, कुन्दन भगी की तरफ से रामलीला वालों को ग्यारह की ठौर इक्कीस रुपये मिले!"

बोलने के साथ-साथ देशी दारू का एक बर्दाश्त-बाहर भभका जेठमल पण्डित के नथुनों तक पहुँचा। नाक पर हाथ रखते उसने तुरन्त एक ओपनी गाली दाग डाली। फिर किसी स्वयंसेवक के पुकारकर देने पर रुपये पकड़ लिए। रुपयों से किस बात की छुआछूत!

रुपये मंच पर पहुँचे।

सज्जनकुमार ने गला साफ किया। फिर, "(धड़िम)...तो सज्जनों!

कुन्दन हरिजन की तरफ से, सती मंदोदरी के नाम पर इक्कीस रुपये सादर-सप्रेम समर्पित। बोलो सियावर रामचन्द्र की जय!" घड़िग!

"इक्कीस" का उच्चारण उसने ऊँचा भी रखा और पिछले घड़िग के पश्चात् एक बार और बोल डाला, "इक्कीस रुपये!"

यही जगह। वही कौतुक। लोगों ने मुड़कर देखा—अट्टहास में लाला महाराज को मात देने में सचेष्ट कुन्दन अपने हाथ-पैर उठा-पटक रहा था, स्वयंसेवक सावधान थे। तुरन्त पहुँचकर उसे काबू में किया। और जबरन बिठा दिया। ऐसी खुशी का यह तिरस्कार! अपने लेखे तो कुन्दन ने दिल्ली ही फतह की होगी। पर स्वयंसेवकों का दिल जरा-भी नहीं पिघला था।

मंदोदरी का विलाप बामुश्किल अपने ढर्रे पर आया।

दर्शकों के मन रमने लगे। सज्जनकुमार अपने असली ठिकाने पर पहुँचा। मंच की बायीं तरफ कनात में एक खिड़की। दाताओं के नाम और नगदी के माईक तक पहुँचने का जरिया। मंच पर आज राम का कोई काम न था। उसके धनुष-बाण खूँटी पर लटक रहे थे। इसीलिए राम इस अमूल्य खिड़की के मोर्चे पर डटा हुआ था।

घड़ाधड़ चार दानी पहुँचे। सज्जनकुमार ने नगदी हस्तगत की। नाम पूछे। एक गुप्त-दान था। गुप्त-दान से सज्जनकुमार बेहद प्रसन्न! गुप्त-दान का माहात्म्य तो और भी बड़ा। फिर मन्दी में जितने चाहो, गुप्त-दानों की घोषणा करो भले ही। जोश चढ़ाने की कला में सज्जनकुमार पारगत। लेकिन आज मन्दी नहीं थी।

"हैं! क्या? इक्यावन रुपये?"

मारने सांड की तरह आकर एक ने खिड़की से सिर भिड़ाया सज्जन-कुमार ने झुककर दर्शन किए। किसने कहा दानवीर कर्ण मर गया?

"हाँ-हाँ, इक्यावन रुपये...!" दानवीर को सज्जनकुमार की सज्जनता पर क्रोध आ गया, 'इस मगी की यह औकात कैसे हुई? घर की औरतें तो सारे मुल्क का हँगा सिर पर उठाती हैं और यह लाट साहब हमारे सामने ताल ठोकता है! मैं भी देखता हूँ, कित्ती देर?"

दानवीर की बात सौ-टंच। कच्चे पाखानों का चलन अपने मुल्क से उठ थोड़े ही गया है! आदमी का हँगा आदमी उठाए, इससे बढ़कर

अहिंसा और आजादी तो और क्या होगी ! गांधी बाबे का महत्त्व इस देश मे निपट थोड़े ही जाएगा, कुन्दन के बहाने दानवीर के मुख पर सत्य की ध्वजा फहरा गई। रामलीला मे रामराज्य का सपना पूर्ण हुआ जैसे।

अब और सज्जनकुमार से नहीं ठहरा गया। गिरते-पड़ते मंच पर पहुँचा। निरन्तर घड़िग बजे। परन्तु इस दानवीर कर्ण का नाम इतना सस्ता न था। उसके गुणगान मे ही माकूल मुद्राएँ न बना सके, तो सज्जनकुमार की कला पर हजार लानत ! उसने गला भली प्रकार साफ किया। दोहे पढ़े। शेर पढ़े। नोटो को चुटकी मे पकड़कर लहराया।

दो घड़िगो के पश्चात सज्जनकुमार की वाणी गूँजने लगी, "भक्त बड़ा या भगवान ! बोलो भक्तराज की जय ! माताओ एव बहनों, बूढ़ों-जवानो, गोरो और कालो ! जिगर थामकर सुनो, अब इनकी बारी है। आपके गाँव के नामी, गिरामी सेठ साहब श्रीमान् फत्तूमलजी रामकथा और रामलीला के मर्मज्ञ ! आप गुणी और गुण के कदरदान हैं, इसीलिए रानी मदोदरी के मार्मिक अभिनय से अतीव प्रसन्न होकर, मडली को इक्यावन...हाँ-सा इक्यावन रुपये अर्पित करते हैं। बोलो सियावर रामचन्द्र की जय !" घड़िग ! घड़िग ! घड़िग !

तीसरा घड़िगा बजा और न बजा, रामायण शुरू। इस बार लोग हिले तक नही। परन्तु स्वयसेवक अपना कर्तव्य नही भूले। तुरन्त सँभले। कुन्दन की स्मरण-शक्ति नशे मे और बढ़ा दी थी, भूली-बिसरी गालियाँ भी मानो उसके कण्ठो आन विराजी। देशी दारू के भभके मे सेठ साहब के परिवार का कादा-कीचड़ हुआ। आवेश ने एक हरे नोट का पत्ता उछाला। *स्वयसेवक सजग थे, उसे नीचे नही गिरने दिया। कुन्दन को बिठाने के बाद* वे मच की तरफ लपके।

मदोदरी अपनी भूमिका भूल गई। ढोलकिये ने जो थाप मारी, तो हथेली ढोलक के कलेजे जा लगी। वह भागा और खूँटी पर से दूसरी ढोलक उतार लाया।

घड़िग ! घड़िग !

"हाँ, तो सायबान-कदरदान...!"

सज्जनकुमार को कही से कुछ भी उधार नही लाना था। परन्तु

मन-ही-मन सोचा उसने भी होगा, कि उसकी अग्नि-परीक्षा है। उत्तीर्ण रहने पर मैनेजर साहब कुछ कसर थोड़े ही रखेंगे। बख्शीश की बोतल का काल्पनिक घूंट भरकर ही उसने इस बार माईक पकड़ा होगा।

धड़िंग ! धड़िंग ! धड़िंग !

मंदोदरी मंच पर ठहरे और न ठहरे, हारमोनियम और गवैया हट जाएँ भले ही, आज तो सज्जनकुमार और ढोलकिया पर्याप्त होंगे। रामलीला आज व्यर्थ तामझाम से मुक्त हो चुकी थी।

कितनी देर ?

फत्तूमलजी ने मसखरी नही की। च्यूँटी-भर पगार का एक सरकारी भँगी याने सफाई मजदूर क्या खाकर उनके सामने ठहरता ! मकोड़ा गुड़ की भेली खींचकर नही ले जा सकता।

अपने पासकी नगदी तो फत्तूमलजी ने इक्यावन के मोर्चे पर ही लुटा डाली थी, परन्तु उनकी साख का मोल किसने आँका था! नीचे झुककर उन्होंने कंकर उठाए और मंच पर फेंककर सज्जनकुमार को ताकीद की, "फी कंकर सौ का नोट समझना ! इस हरामखोर की अंटी के सारे बल निकाल डाल। सवेरे हवेली आकर कंकर गिन देना और रुपये लेते जाना !"

सज्जनकुमार ने बाअदब मुजरा किया। फिर मंच पर बिखरे कंकर चुगने लगा। अब कुन्दन की जेब उघड़ते कितनी देर लगती ? धड़िंग, धड़िंग ! अंटा-चित्त !

मंदोदरी पसीने से भीग गई। ढोलकिये की कलाई झड़ गई। मैनेजर साहब मंच पर चढ गए। अगले दृश्य मे अशोक-वाटिका में दिखने को तैयार रावण अर्थात् लाला महाराज, जोश के मारे पहले ही मंच पर दिखने लगे।

कुन्दन ने कुर्ते की सारी जेबें फाड़ ली। कुछ नही निकला। मारे झल्लाहट के वह नीचे झुका और दोनो हाथ भरकर मंच की दिशा में मिट्टी उछाल दी। मंच का कुछ नही बिगड़ा। लोगों की आँखें रेत से भर गईं। स्वयंसेवकों मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई। डंडे उठाकर जो लपके, फिर तो कुन्दन को रामलीला मैदान की सीमा से आगे तक खदेड़कर ही विश्राम लिया।

'सुकांत के सपनो में

आरती के थाल सज गए।

राम, रावण, सीता, मंदोदरी, लक्ष्मण, हनुमान और मैनेजर साहब ने मिलकर फत्तूमलजी को ऊँचा उठा लिया। (मंडली में सचमुच की स्त्री एक भी नहीं थी) जयकारों के बीच मंच पर ला उतारा। राम-दरबार का दृश्य लगा। फत्तूमलजी की खातिर मूढ़ा मँगवाया गया। भगवान राम के करीब बिठाकर उनकी तस्वीर उतारी गई। मंडली का कैमरा बाराना आज सार्थक हुआ। दर्शक हृदबन्दियाँ तोड़ने मंच के किनारे तक आ पहुँचे। फत्तूमलजी का जीवन सुधर गया।

इन्हीं क्षणों में कुन्दन एक अँधेरी गली में कुत्तों और अपनी लड़खड़ाहट से एक साथ जूझ रहा था। कदम नशे से नहीं, स्वयंसेवकों की मार से लड़खड़ा रहे थे। बेरहमों ने सारा नशा उतार डाला था। आखिर लड़खड़ाहट सँभली नहीं, तो धराशायी हो गया। कुत्ते पहुँचे और सूँघकर चले गए। कुन्दन ने राहत की साँस लेकर आँखें भींच लीं।

सवेरे ही उसकी घरवाली मेरे पास चली आई। मुझे छोड़ उसका दुखड़ा सुनता भी कौन? आँखें भींचने से लेकर बरामद होने तक कुन्दन के बुरे हाल सुनाकर उसने कहा, "बस ही पगार तो बनाते हैं। घर पर चून के पीपों में चूहे नाच रहे हैं और आप पहले ठेके और फिर रामलीला जा पहुँचे। दारू ने इनकी मत ही मार दी। नहीं तो क्या इतना भी नहीं जानते! इतने बड़े सेठ के आगे हम नाकुछ लोगों का कैसा जोर? दर्शन से जाकर बककर क्यों सिर फुड़वाए! पर नशा कुछ सोचने देता तो सोचते!"

नशा! मैंने सोचा—अन्धे को भी दिखे जैसी बात कि इस सत्यानाश की जड़ में नशे के सिवाय कुछ नहीं था। परन्तु नशे में क्या अकेला कुन्दन ही था? समूची रामलीला और उसके दर्शक क्या मदहोश न थे? और सबसे बढ़कर मदहोश कोई था, तो फत्तूमलजी! नशे की भी औकात होती होगी...अपना-अपना ही होता होगा नशा!

कुन्दन की घरवाली रोने बैठ गई। मैंने उसे उठाया और लेकर मैनेजर साहब के समक्ष प्रस्तुत हुआ। उन्होंने पूरा वृत्तान्त सुन लिया। कुछ देर शान्त रहे। फिर अथाह गहराई से बोलने लगे, "आप साथ चले आए हैं तो स्पष्ट

रखने के सिवाय दूजा रास्ता नहीं कि भगवान को भेंट की हुई दौलत लौटाई नहीं जाती!"

लुंगी के लपेटों से आजाद कर उन्होंने नोटों का बंडल हाथ में लिया। तीन दस-दस के नोट बेरहमी से खींचकर कुन्दन की पत्नी के आगे फेंक दिये, "उठा और चलती बन...और मेरे पास कुछ भी नहीं है!"

घड़िग!

दूर या पास, ढोलकिया कहीं भी नजर नहीं आया। फिर यह आवाज कहाँ से आई?

मालचंद तिवाड़ी

जन्म . 19 मार्च, 1958

□

कृतियाँ :

'पानीदार तथा अन्य कहानियाँ'।

'धदद' (राजस्थानी) कहानी-संग्रह।

'भोळावण' (राजस्थानी) उपन्यास।

□

'शिखर' (शिमला) की अखिल-भारतीय कथा-प्रतियोगिता में कहानी 'पानीदार' को प्रथम पुरस्कार।

'सारिका' तथा 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में कहानियाँ पुरस्कृत।

□

सम्प्रति . राजकीय सेवा में।

□

सम्पर्क . कालू बास, श्रीडूंगरगढ़।

क
कविता
प्रकाशन,
बीकानेर